वेदान्त-दर्शन

पूर्वार्द्ध

उर्दू भाष्यकार—

श्री स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती

हिन्दी अनुवादक—

पं० बिहारीलाल काव्यतीर्थ

प्रकाशक—

श्यामलाल सत्यदेव वर्मा, बरेली,

तथा

बाबू चतुरबिहारी सकसेना, देहली.

२००० प्रति } प्रथम संस्करण—१९३२. { मूल्य १।)

प्रकाशक—
श्यामलाल सत्यदेव वर्मा, बरेली,
तथा
बाबू चतुरबिहारी सकसेना, देहली,

मुद्रक—
पंडित मन्नालाल तिवारी,
हरीकृष्ण कार्यालय, शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस,
लखनऊ.

प्रकाशक का निवेदन.

सात वर्ष हुए जब हमने पण्डितजी से इस ग्रन्थ का अनुवाद कराया था ; परन्तु अपनी धर्म-पत्नी की बीमारी और मृत्यु के क्लेश में फँसे रहने के कारण हम इस ग्रन्थ को प्रकाशित न कर पाये और फिर इसके बाद भी ऐसी आर्थिक कठिनाइयों में फँसे रहे कि इसके प्रकाशन का विचार ही छोड़ दिया ; परन्तु ग्राहकों की आवश्यकता का अनुभव करके इसे छपाना ही पड़ा। अब यदि हमारे प्रेमी ग्राहकों ने इसे अपनाया, तो शेष अन्य पाद भी शीघ्र ही सेवा में प्रस्तुत किये जायेंगे। अनुवाद इसी शैली पर किया हुआ तैयार रक्खा है। अर्थाभाव के कारण एक साथ नहीं छपाया गया है। हम आशा करते हैं कि पाठक महाशय हमारे उत्साह को बढ़ायेंगे और इसके पाठ से लाभ उठायेंगे।

—श्यामलाल वर्मा.

अनुवादकीय निवेदन

प्रखर प्रतिभाशाली, तर्क-भास्कर, वैदिक धर्म-प्रचारक, पाखण्ड-तमोनिवारक, मुनिवर स्वामी दर्शनानन्दजी के उर्दू वेदान्त दर्शन का यह हिन्दी अनुवाद श्री श्यामलालजी ने काशी आर्य्य प्रतिनिधि के उत्सव से लौटते हुए हमें शाहगंज में दिया था। मित्रवर पं० लक्ष्मीदत्तजी के लेखन-परिश्रम से अनुवाद शीघ्र ही तैयार हो गया; परन्तु कई घरेलू कठिनायों में घिरे रहने के कारण प्रशंसित प्रकाशक इसे प्रकाशित न करा पाये। अब इतने दिनों बाद भी इसके प्रकाशन की बारी आई यह भी ग़नीमत है।

अनुवाद कैसा हुआ है, यह तो विज्ञ पाठक ही बता सकेंगे; किन्तु भाष्य जैसा तर्कसंगत है वैसा देशी भाषा में और शायद ही मिले। द्वैत ही नहीं, वरन् त्रैत पक्ष को लेते हुए बिना किसी खींचा-तानी के स्वामीजी ने सूत्रार्थ की जैसी अच्छी संगति लगाई है, उससे मन को पूरा-पूरा संतोष हो जाता है। हमने इस अनुवाद के समय और भी दो एक भाष्य देखे और शांकर भाष्य भी देखा; परन्तु युक्ति में स्वामीजी महाराज भगवान् शंकर से पीछे नहीं रहते, फिर और टीकाकार तो हैं ही किस गिनती में। वास्तव में स्वामीजी को ईश्वर-प्रदत्त तर्क-शक्ति मिली थी और तिसपर भी वे सत्य पक्ष पर थे। वेदान्त दर्शन को यदि वास्तव में व्यासजी ने वेद के अनुकूल बनाया है और हमारा पूर्ण विश्वास है कि अवश्य वेदानुकूल बनाया है, तो चरणदास,

निश्चलदास आदि मायावादियों के पक्ष में इसका अर्थ होना केवल अनर्थ ही है। वेद भगवान् स्पष्ट रूप में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन सत्तायें बता रहे हैं; अतः मायावादियों का कथन वेद-विरुद्ध प्रलापमात्र है। उनका आलाप जो कहते हैं कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है, जीव प्रकृति कुछ नहीं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" वेद से नहीं मिलता। देखिये वेदमंत्र—

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ अथर्व

यहाँ एक तत्व बाल से भी सूक्ष्म (मुहावरा है) परमाणु (प्रकृति) है दूसरा तत्व 'न+इव दृश्यते' नहीं सा मालूम पड़ता है (जीव) है। तीसरा तत्व परिष्वजीयसी सर्वव्यापी विभु ब्रह्म है। और भी—

नतं विदाथ य इमा जजान पुष्याकमन्यदन्त-रावभूव यजुः। अ० मं०

भावार्थ—हे मनुष्यो! तुम उसे नहीं जानते, जो तुमसे अन्य; परन्तु तुम्हारे भीतर है।

इस मन्त्र में "युष्याकमन्यत्" शब्द स्पष्ट रीति से जीव और ब्रह्म का भेद बता रहा है। ऐसे ही वेदोपनिषद् आदि प्रामाणिक शास्त्रों के अनेक प्रमाण हैं, जिनसे जीव और ब्रह्म का भेद प्रकट होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् तो बहुत ही साफ तौर से त्रैतवाद का प्रतिपादन कर रही है और जहाँ कहीं अभेदवाद की झलक पायी जाती है, वह ब्रह्मानन्द में मग्न जीव की दशा का वर्णन है।

उस दशा में तद्रूप भान होने ही लगता है; परन्तु वास्तव में तो ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्त्वों का अस्तित्व किसी प्रकार एक होता नहीं। अब जरा युक्ति से भी परखिये। अभेदवादियों (अद्वैत मतवालों) की माया अनादि है; परन्तु वे उसे सान्त कहते हैं। कहीं एक किनारे की नदी नहीं देखी गई। जो अनादि है, वह अनन्त होगा ही। अभेदवादी इस पर एक उदाहरण देते हैं कि कार्य्य उत्पन्न होने से पूर्व उसका अभाव अनादि है और उत्पन्न हो जाने पर उस अभाव का अन्त हो जाता है; इसलिये कार्य्या-भाव अनादि सान्त हुआ अर्थात् ताजमहल बनने से प्रथम उसका अभाव अनादि काल से चला आता था; जब ताजमहल बन गया, तो उसके उस अनादि अभाव का अन्त हो गया। इस प्रकार अनादि सान्त का उदाहरण वे दिया करते हैं। विचारणीय विषय कारण है, उदाहरण कार्य्य का है। प्रत्येक कार्य्य अनुभूत-रूप से अपने कारण में रहता है। ताजमहल भी पत्थरों में और शिल्पियों के ज़ेहन में पहले से विद्यमान था; इसलिये उसका अभाव अनादि नहीं हुआ, उसकी उत्पत्ति सादि है; इसलिये सान्त है और नष्ट हो जाने पर फिर उसका अभाव हो जायगा। कार्य्य का भाव सादि था, इसलिये सान्त होगा। इससे तो हमारे पक्ष को ही पुष्टि होती है। अनादि कालीन अभाव फिर अनन्त हो रहता है; परन्तु अद्वैतवादियों की माया ऐसी नहीं है। ब्रह्म उससे संयुक्त होकर जीव बनता है और यह अनादि कालीन है; परन्तु जब यह संयोग ज्ञान से दूर हो जाता है तब जीव ब्रह्म हो जाता है। अद्वैत-वादियों का यह पक्ष युक्ति से सिद्ध नहीं होता। यदि संयोग अनादि है, तो अनन्त होगा; फिर जीव ब्रह्म बन ही न सकेगा। यदि संयोग सादि है, तब सान्त होगा; उसके दूर करने के लिये पुरुषार्थ करना व्यर्थ है और फिर सर्वथा माया का अन्त भी तो नहीं

होता। मान लो, देवदत्त की माया मिट गयी, वह ब्रह्म हो गया, तब यज्ञदत्त जिसकी माया नहीं मिटी अभी जीव है ही; तब जीवत्व तो कहीं न कहीं रहेहीगा और मायात्व भी रहेहीगा। फिर जब हर काल में जीव, ब्रह्म और माया (प्रकृति) विद्यमान है, तो अद्वैतपन किस काल में रहेगा? जीवत्व, ब्रह्मत्व, मायात्व सदा था और सदा रहेगा। हाँ, सिर्फ़ देवदत्त की अपेक्षा द्वैत नहीं रहा; परन्तु सर्वथा द्वैतत्व का अभाव होता नहीं पाया जाता। हाँ, यदि वेदान्ती कहें कि सब ब्रह्माण्ड से ही माया मिट कर सब कुछ ब्रह्म हो जायगा, तो फिर उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि फिर सृष्टि नहीं होगी, तो हम पूछेंगे कि वर्तमान सृष्टि अनादि है वा सादि—यदि अनादि है, तो ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता नहीं और फिर वेदान्त-दर्शन के "जन्माद्यस्ययतः" सूत्र से विरोध हुआ। यदि संसार सादि है, तो सान्त है; परन्तु इसका सादि तथा होना प्रवाह से तो अनादि रहेगा, अन्यथा ब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्व गुण अनित्य हो जायगा; क्योंकि वह प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव के बीच में आ जायेगा अर्थात् सृष्टि यदि एक ही बार रची, तो उस रचना से पहले ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता नहीं कहा जा सकता और सृष्टि का अन्त होने के बाद भी उसका यह गुण व्यर्थ होगा। ऐसी दशा में मुहम्मदी मत प्रदर्शित ईश्वर की तरह केवल कुछ काल ही ईश्वर में यह गुण रहेगा; अतएव यह गुण अनित्य होगा और गुण अनित्य तो गुणी अनित्य वा यह गुण नैमित्तिक मानना पड़ेगा। ऐसी दशा में ईश्वर की महत्ता ही क्या रहेगी; अतः संसार का बनना-बिगड़ना प्रवाह से अनादि मानना होगा। ऐसी दशा में ब्रह्म जीव बनता रहेगा; जीव ब्रह्म बनता रहेगा और माया के कारण यह सारा खेल होता रहेगा। अब यह अद्वैत हुआ या त्रैत—और त्रैत भी ऐसा भद्दा कि ब्रह्म विकारी बन

गया। माया के वश जीव बनता है; कोशिश कर छूटता है और फिर फँसता है। उसका एक देश देवदत्त माया से मुक्त होता है, तो दूसरा देश यज्ञदत्त मायाबद्ध है और तीसरा देश भद्रदत्त माया से बँधनेवाला है। यह क्या गोरखधन्धा हुआ ? इस त्रैत से तो ऋषि दयानन्द का माना हुआ त्रैत ही निर्दोष रहता है।

ब्रह्म शुद्ध, चेतन, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, परन्तु स्वाभाविक सृष्टिकर्त्ता; जीव सापेक्ष, अशुद्ध, चेतन, अल्पज्ञ, स्वाभाविक प्रयत्नशील और प्रकृति नानारूपों में परिवर्त्तित होने का स्वभाव रखनेवाली है। ब्रह्म जीव के कर्मानुसार स्वाभाविक न्यायकर्त्ता; जीव अल्पज्ञता के कारण प्रकृति प्रेम से बद्ध ईश्वर-प्रेम से मुक्त, अज्ञ जड़ में सुख पाने की इच्छा से फँसकर दुखी, सर्वज्ञ चेतन में आनन्द पाने की कामना से जाकर आनन्दी है; इस प्रकार न ब्रह्म में विकारी होने का दोष आता है और न कल्पना की हुई मायावादियों की माया ब्रह्म को जीव बनाकर नाच नचाती है; किन्तु त्रैतवाद में ब्रह्म की स्वाभाविक गति से माया नृत्य करती है; अतः अनेक दोषों से युक्त मायावादियों का मत मान्य नहीं हो सकता।

दूसरे देश के अद्वैतवादी मुसलमान व ईसाई हैं। ये लोग कहते हैं कि एक ख़ुदा है। उसने जीव, प्रकृति और इस दृश्य जगत् को रचा; अभाव को भाव कर दिखाया और दृश्य संसार के नाश हो जाने पर जीव तो रहेगा और सब फिर अभाव रूप में हो जायगा। मुसलमानों का एक बहुत बड़ा भाग स्वर्ग, नरक, फ़रिश्ते आदि कई शुद्ध, सूक्ष्म, प्राकृतिक पदार्थों को भी उत्पन्न; परन्तु अविनाशी मानते हैं। इनके मत में भी दोष आता है। यदि ईश्वर से ये पदार्थ पैदा किये गये, तो नाश भी किये जायँगे। किसी प्रकार फिर अविनाशी नहीं हो सकते। जैसे मायावादियों का अनादि

सान्त ; माया-वाद एक किनारे की नदी की भाँति असम्भव है ; वैसे ही मुसलमानों का 'उत्पन्न हुए जीव का अविनाशी होना अथवा सादि का अनादि होना' असम्भव है, युक्ति-विरुद्ध है और अन्य भी अनेक दोषापत्ति आती हैं ; यथा—

जीव और प्रकृति के भाव रूप होने से पहले ईश्वर के ज्ञान में इनका अभाव था और यह अभाव अनादि कालीन था ; फिर यह कौनसा कारण हुआ कि ईश्वर के ज्ञान में इनका भाव आया तथा आदि ईश्वर के ज्ञान में अभाव-रूप पदार्थ का भाव आया, तो ईश्वर का ज्ञान दूषित हुआ और विकारी भी जब जीव प्रकृति कुछ नहीं थे, तो इस अभाव (अदम) का भाव (वजूद) का विचार करना ईश्वर में सम्भव नहीं। यदि मुसलमान लोग आर्य्य लोगों से यह प्रश्न करें कि सृष्टि रचने से पूर्व सृष्टि के नाम-रूप का ईश्वर के ज्ञान में अभाव होगा, फिर भाव कैसे आया ; तो उत्तर यह है कि इससे पहिले भी सृष्टि थी ; उसीके अनुसार भाव था (सूर्याचन्द्र-मसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत्) पूर्व कल्प के समान सृष्टि-रचना हुई। रचना और प्रलय, प्रकृति और जीव का अस्तित्व सब ईश्वर के ज्ञान में है और यह ज्ञान नित्य है ; क्योंकि ईश्वर भी नित्य है। यह नहीं कि ईश्वर के ज्ञान में एक बार यह संसार—रचना का बखेड़ा आ गया और फिर नहीं आवेगा। यदि यह ज्ञान स्वाभाविक है, तो नित्य है ; क्योंकि ईश्वर नित्य है और यदि ज्ञान नित्य है, तो सृष्टि-रचना और जिससे सृष्टि रची गई (प्रकृति) व जिसके लिये रची गई (जीव के भोग) वह भी नित्य होना चाहिए। इसीलिये सृष्टि-रचना को प्रवाह से अनादि और जीव और प्रकृति को अनादि मानना पड़ता है। मुसलमान इससिद्धान्त में यह भी आपत्ति करते हैं कि यदि तीन पदार्थ

अनादि हैं, तो ईश्वर का ईश्वरत्व क्या रहा ? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर का ईश्वरत्व यही है कि वह इनका अधिपति है। यदि ये पदार्थ नित्य न माने जायँ, तो इनकी उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर किनका अधिपति था। विना मिलक का मालिक, विना खलक का ख़ालिक कैसे थे ? ईश्वर की जीव और प्रकृति प्रजा है। वह इसे नाम-रूप देता है; ताकि जीव अपने प्रयत्न द्वारा मोक्ष प्राप्ति करे तथा कर्म-फल-रूप ऋण से उऋण हो। एक यह भी प्रश्न है कि ईश्वर ने इन्हें बनाया, नहीं तो इनका स्वामी कैसे हो गया। उत्तर साफ़ है। ईश्वर को ज्ञानकृत ज्येष्ठत्व और अधिपतित्व है, प्रकृति 'अज्ञ' जीव 'अल्पज्ञ' और ईश्वर 'सर्वज्ञ' है; इसलिये अधिपति है। मुसलमानों का यह भी मत है कि ईश्वर एक वार सृष्टि-रचना करता है; ऐसी हालत में ईश्वर का सृष्टि-रचना के गुण व कर्म दो अभावों (नफ़ियों) के बीच आने से अनित्य हो जायगा और जिसके स्वाभाविक गुण कर्म अनित्य वह गुणी (ईश्वर) भी अनित्य जैसाकि ऊपर लिख चुके हैं; इसलिये मुसलमानों का अद्वैत भी युक्ति-विरुद्ध होने से त्याज्य ही है। रहे इसाई; ये दोनों नाग-नाथ तथा सर्पनाथ की तरह समान ही हैं। हाँ पिता, पुत्र, पवित्रात्मा इस प्रकार त्रैत मानते हुए भी एक ही ईश्वर में तीनों भाव मानकर अद्वैत मानते हैं। अव एक और प्रकार के अद्वैतवादी भी हैं; यथा चार्वाक तथा योरुप के अनेक दार्शनिक। यह जड़ द्वैतवादी हैं। प्रकृति को ही मानते हैं, जीव को प्रकृति की ही दशा विशेष का परिणाम, ईश्वर को नहीं। इनका मत भी युक्ति-युक्त नहीं है। यदि प्रकृति में सज्ञान क्रिया स्वाभाविक है, तो सर्वत्र क्यों नहीं; यदि कुछ पदार्थ विशेषों के सम्मेलन से जीव का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो वह जीव उन पदार्थों में पहिले से मौजूद था वा नहीं; यदि था तव तो कोई वात नहीं; यदि नहीं था, तो अभाव से भाव कैसे

हो गया ; यदि जीव भी प्रकृति का या उसके पंचभूतों का गुण होना प्रकृति की दशा में विशेष का विकास हो, तो मानना पड़ेगा कि प्रकृति चेतन है ; परन्तु अनुभव से ऐसा सिद्ध नहीं होता और न जीव गुण ही हो सकता है ; क्योंकि जीव ज्ञान आदि गुण स्वयं है और गुण के गुण होते नहीं। यदि चेतनता गुण प्रकृति का होता, तो प्रकृति में कहीं तो दिखाई पड़ता। समाधि अवस्था में मन बुद्धि आदि सबसे पृथक होकर जीव अपनी सत्ता का मैं हूँ ऐसा अनुभव करता है ; अतः जीव जरूर है। प्रकृति में नियमानुसार क्रियायें पाई जाती हैं ; इसलिये इसका ज्ञानवान नियन्ता कोई शक्तिमती सत्ता अवश्य व्यापक है। वर्तमान विज्ञान उसे न जान सके, योरोप के फिलासफरों की पहुँच वहाँ तक न हो सके, उस सत्ता का स्वरूप क्या है यह भी चाहे अज्ञेय रहे ; परन्तु कोई ऐसी सत्ता है अवश्य ; इस बात को सृष्टि के नियम-पूर्ण रूप से सिद्ध कर रहे हैं। चारवाक जैन और बौद्ध भी सृष्टि-रचना और नियमयुक्त उसका संचालन होना कैसे होता है इन बातों का समाधानकारक उत्तर नहीं दे पाते। जैनी जीवात्मा को तो नित्य मानते हैं ; परन्तु सृष्टिव्यापक ब्रह्म को नहीं ; परंतु सृष्टि-रचना कैसे होती है, इस उलझन को नहीं सुलझा सके। 'सृष्टि अनादि है' इनका इतना कहना संतोष नहीं देता ; जबकि आज भी आकाश में विविध उल्काओं को देखकर सृष्टिरचना का सिलसिला और प्रलय का नमूना मालूम पड़ता है, तो सृष्टि को विना रचा हुआ नहीं माना जा सकता। कोई भी आकृतिमान पदार्थ विना रचा हुआ नहीं दिखाई देता ; फिर यह विशाल भूगोल जो नियमानुसार एक सुनियंत्रित मैशीन के भाँति काम कर रहे हैं, विना नियामक और रचयिता के कैसे माने जा सकते हैं। एक सर्वव्यापिनी चेतन सत्ता है, जो स्वभावतः ही इनका

संचालन करती है और वही ब्रह्म है। बौद्ध जीवात्मा को एक अनोखे प्रकार से मानते हैं। उनका जीवात्मा क्षण-क्षण बदलता और वह एक दूसरे को संस्कार देता रहता है। नहीं मालूम उनके इस सिद्धांत में कौनसी खूबी है। यह मानने में क्या हानि है कि एक आत्मा है कि जिसमें बाह्य परिस्थितियों के कारण नवीन विचार-धारायें उठा करती हैं और जब यह विचार-धारा बन्द हो जाती है, तभी जीवात्मा क्लेशरहित होता है और यदि अपनी धाराओं को ब्रह्म में सन्निविष्ट कर दें, तभी ब्रह्मानन्द को भोगकर कृतकृत्य हो जाता है। यही शून्य अवस्था और यही निर्वाण है। बौद्ध जो क्षणिक विज्ञान को ही जीवात्मा मानें, तो यह विज्ञान गुण है किस द्रव्य का ? जड़ प्रकृति का तो हो नहीं सकता। बौद्धों का निर्वाण तो क्षणिक विज्ञान का विनाश ही है। यदि ऐसा है, तो फिर मोक्ष किसकी ? विनाश का नाम मुक्ति क्या हुआ ? क्या आत्मविनाश की चेष्टा के लिये ही इतना जप-तप संयम करना चाहिये। यह सारे ही वाद कुत्सित और अयुक्त हैं; वैदिक त्रैतवाद के सामने ठहर नहीं पाते और न इतना संतोष देते हैं। प्रकृति भी है, जो जीवात्मा के सामने नाना प्रकार नाटकीय पर्दे दिखाती रहती है; ब्रह्म भी है, जो जीवात्मा को कर्मानुसार फल भोग देता हुआ वेद द्वारा उसे आनन्द-मार्ग भी बता रहा है। स्वतन्त्र जीवात्मा की इच्छा है, चाहे वह प्रकृति का नाटक देखता रहे और ब्रह्मानन्द में मग्न हो। इन नाटक के पर्दों में रोचकता भी है, भयानक दुःख भी है और सुख भी; परंतु ब्रह्म में आनन्द ही आनन्द है। जो लोग कहते हैं कि अपने को ब्रह्म कहने से निर्भयता आ जाती है, उनको यह भी समझना चाहिये कि अपने को ब्रह्म के पुत्र से और भी निश्चिन्तता भरी निर्भयता प्राप्त होती है। ब्रह्म होने से ब्रह्म का प्रेमी होना और

भी अधिक अच्छा है। स्वयं अमृत होने से अमृत पान करना कहीं अधिक आनन्दकारक है। स्वामीजी का यह भाष्य मुमुक्षु भक्तों के लिये बहुत उपयोगी है और वैदिक धर्मियों के लिये एक बड़ी सम्पत्ति है। यदि इसे पाठकों ने पसन्द किया, तो इसी प्रकार का शेष अध्यायों के भाष्य का अनुवाद भी उनके कर कमलों में शीघ्र ही समर्पित करने का विचार है।

उर्दू भाषा में उपनिषदों की श्रुतियां मूलतः नहीं लिखी थीं, उनका अन्वेषण करके हमने पाद-टिप्पणी में दिया है।

—बिहारीलाल काव्यतीर्थ

स्वामीजी का जीवन-चरित्र

सम्वत् १९१८ विक्रमी में मुनिवर स्वामी दर्शनानन्द जी ने पञ्च गौड़ों में अग्रगण्य सारस्वत ब्राह्मण वंश को धन्य किया था। श्रीमहाराज की जन्मभूमि होने का सौभाग्य पञ्जाब प्रान्त के लुधियाना मण्डलान्तर्गत जगरावाँ नामक ग्राम को है। महाराज के पूज्य पितृचरणों का नाम पं० राजाराम जी था और श्रीमान् की वैदिक धर्मानुयायियों के लिये रामकृपा सदृश कृपाराम नाम से विख्यात हुए। महाराज का जन्म एक धनसम्पन्न भरे-पुरे घर में हुआ था; इसलिये आपके जन्म पर बड़ी धूम-धाम हुई और बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन हुआ। बचपन में आपको उस समय के रिवाज के अनुसार फ़ारसी पढ़ाने में लगाया गया; परन्तु उसमें आपका चित्त न लगा और संस्कृत सीखने के इच्छुक हुए और अपने पूज्य पिताजी के पादपद्मों में बैठकर संस्कृत सीखना प्रारम्भ किया; परन्तु गृहकार्यों में व्यस्त रहने के कारण आपके पिताजी को समय न मिलता था, इसलिये आप अपने मामा के पास फ़ीरोज़पुर भेजे गये। आपके मामा वहाँ हेडमास्टर थे। दैवदुर्विपाक से इनके मामा का स्वर्गवास हो गया, तब आपको शीघ्र ही घर आकर दस वर्ष की आयु में ही विवाह-बन्धन में बँध जाना पड़ा। यह समय वह था जब 'अष्ट वर्षा भवेद्गौरी' का राज्य था। बचपन का विवाह सौभाग्य और कुलीनता का कारण समझा जाता था। इसके

उपरान्त स्वामीजी को स्कूल में फाँसने की बहुत कोशिश की गई; परन्तु यह स्वतंत्र जीव बन्धन की शिक्षा को कब पसन्द कर सकता था। घर का काम-काज भी सौंपा गया, वाणिज्य-व्यवसाय का फन्दा भी डाला गया; मगर सारे यत्न इनके फाँसने में असमर्थ रहे। इसी बीच में आपको आर्य्यसामाजिक पुस्तकें पढ़ने का चस्का लग गया और इन पुस्तकों द्वारा आपकी पूर्व जन्म की सुप्त प्रतिभा जाग उठी। फिर आप अपने पितामह पण्डित दौलतरामजी के पास जो काशी-वास करते थे पहुँच गये। वहाँ रहकर आपने संस्कृत भाषा पढ़ी और वैदिक दर्शनों का गुरु-मुख से अध्ययन किया; क्योंकि आप संस्कारी जीव थे। छहों दर्शन आपको ऐसे ही आ गए जैसे कि पूर्व की याद की हुई बात ज़रा से निमित्त से याद आ जाती है। आर्य्य-समाज के प्रचार की आपको धुन थी। उन दिनों जहाँ-तहाँ शास्त्रार्थों की बाढ़ आई रहती थी। शास्त्रार्थों के मैदान में बस आपही का बोल-बाला था। मौलवी, पण्डित और पादरी इत्यादि कोई भी वैदिक धर्म का प्रतिपक्षी बनकर आवे, आपसे निरुत्तर या संतुष्ट होकर जाता था। पं० कृपाराम होने की दशा में ही आपके व्याख्यानों की धूम मच गई थी। उदार आप इतने थे कि काशी में प्रेस खोला, तो बहुत सी पुस्तकें विद्यार्थियों को योंही दे दिया करते थे और यदि मैनेजर आदि क़ीमत का प्रश्न उठाते, तो आप कहते कि लक्ष्मी के कारण सरस्वती का प्रचार बन्द नहीं होना चाहिए अर्थात् धन न होने से कोई विद्यार्थी पुस्तक से वञ्चित न रह जावे। भला ऐसा प्रेस चल ही क्या सकता था। आप लगे रहते थे आर्य्य-समाजिक जलसों में व्याख्यान देने में; ऐसी अवस्था में प्रेस के कर्मचारी क्यों सावधानी से काम करते। बस इसी प्रकार घर का कई हज़ार रुपया उठा दिया और मन

पर मैल न लाये। इधर काँगड़ी में गुरुकुल खुला और विद्यार्थियों के व्यय के लिये फ़ीस लगानी पड़ी। आप भोजनादि की फ़ीस लेने के भी विरोधी थे। विद्यार्थियों को भोजन और शिक्षा जाति की ओर से ही कराकर उनके शरीर और मन दोनों ही को जाति का ऋणी बनाना चाहते थे। आपने निःशुल्क गुरुकुल खोलने का बीड़ा जो उठाया, तो गुरुकुल, सूर्य्यकुण्ड, बदायूँ, महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल और पोटोहार आदि कई गुरुकुल खोल दिये। वैदिक धर्म के प्रेम में आप इतने मस्त हुए कि संन्यासी तो मन से थे ही अब ऊपर से भी सन्यास धारण कर स्वामी दर्शनानन्द बन गये। आपके गुरुकुलों से सैकड़ों संस्कृत के विद्वान निकले और निकल रहे हैं। आजकल भी महाविद्यालय ज्वालापुर आदि संस्थाओं से अनेक वैदिक विद्वान् बनते और जनता का हित करते हैं। आपके गुरुकुलों के सङ्ग एक उपदेशक श्रेणी भी रहा करती थी, जिससे सामाजिक जगत को अच्छे-अच्छे उपदेशक मिले। आज भी आपके सुयोग्य शिष्य पं० रामचन्द्रजी देहलवी अपूर्व तार्किक और उद्भट विद्वान् हैं। आर्य्य-समाज को आप पर गर्व है। स्वामीजी ने लिखित साहित्य से भी आर्य्य-समाज की वह सेवा की कि ऋषि दयानन्द के बाद आपही का साहित्य वैदिक धर्म की पुष्टि के लिये पढ़ने योग्य है वा यह स्थान पण्डित लेखरामजी आर्य्य मुसाफिर के लेखों को मिल सकता है। स्वामीजी के ट्रैक्टों को पढ़कर बहुत से लोग उपदेशक बन गये और ऐसा तो कोई भी उपदेशक नहीं, जो थोड़े-बहुत आपकी युक्तियों का ऋणी न हो। आपके बनाए पुस्तकों का संग्रह दर्शनानन्द ग्रन्थ-संग्रह के नाम से छपा है। इसमें ईश्वर-विचार आदि वैदिक धर्म-मण्डन, क़ुरान की छान-बीन आदि मुहम्मदी मतखण्डन, भोंदू

जाट और पादरी साहब का मुबाहिसा आदि इसाई मत की समालोचना, मूर्ति-पूजा विचारादि, पौराणिक मत की आलोचना इसी प्रकार जैनी आदि अवैदिक मतों की छान-बीन में सौ सवासो ट्रैक्ट लिखे और मीमांसा और भाग को छोड़कर सभी दर्शनों पर आपका भाष्य है। गोड़ पादीय कारिकाओं पर भी आपका भाष्य है। मनुस्मृति और गीता पर भी आपके सुन्दर भाष्य हैं। व्याख्यान देना, शास्त्रार्थ करना, रात-दिन रेलों में घूमना, बेफ़ीस के कई गुरुकुलों को चलाना और लीडरी के लोलुप आर्य्यसमाजियों के प्रहारों को बचाना; इतनी कठिनाइयों में भी युक्तिपूर्ण ऐसा ठोस साहित्य तैयार कर देना आपकी प्रतिभा का ही कौशल था। शास्त्रार्थों में तो आपका नाम ही विपक्षियों को निस्तेज कर देता था। सम्भलसराय तरीन के शास्त्रार्थ में पण्डित भीमसेन आदि बड़े-बड़े पौराणिक पण्डित मौजूद थे और समाज की ओर अकेले स्वामीजी; परन्तु आपकी वाणी का यह प्रभाव था कि प्रतिपक्षी भी सराहना करते थे और पौराणिकों को वह करारी डिफ़ीट दी कि शास्त्रार्थ करानेवाले खुद आर्य्यसमाजी बन गये और जो लोग नमस्ते के नाम पर गालियाँ दिया करते थे आज बड़े प्रेम से नमस्ते करते हैं। अजमेर के जैनियों से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें आपने नास्तिकता के धुर्रे उड़ा दिये और जैन न्याय के प्रकाण्ड पंडित आपकी युक्तियों के सामने दाँतों तले उँगली दबाते थे। आर्य समाजी पंडितों से भी आपका वृक्षों में जीव विषय पर घोर मतभेद था। आप वृक्षों में प्राकृतिक प्रबन्धीय क्रिया मानते थे, स्वतंत्र जैवी क्रिया नहीं। आपके शास्त्रार्थ उस विषय में आर्य विद्वानों से हुए और वह छपे हुए भी हैं, जिनको पढ़ने से आपके पक्ष की ही बलवत्ता प्रकट होती है। आप अकाल मृत्यु को नहीं मानते थे;

और पक्के भोगवादी थे। किसी रोग में चिकित्सा करना कराना आप को पसन्द न था। मृत्यु समय आप हाथरस में थे और यहीं ११ मई सन् १९१३ ई० में ५६ वर्ष की आयु में आप कैवल्यपद को प्राप्त हुए। आपके निर्वाण समय से पूर्व आर्य लोगों ने पूछा कि स्वामीजी क्या कोई वसीअत करनी है। आपने फ़ौरन मन्तक़ी जवाब दिया, क्या ऋषि दयानन्द की वसीअत पूरी कर चुके, जो नई वसीअत की खोज करते हो। स्वामीजी का यह प्रश्न आज भी आर्य समाजियों के सामने है। क्या स्वामीजी की वसीअत पूरी हुई ? क्या जगत में वैदिक धर्म्म, आर्य जीवन और आर्य्य सभ्यता का प्रचार हुआ ? उत्तर नहीं ही में मिल सकता है। आर्य लोगों को चाहिये कि आर्य ग्रन्थों का प्रचार न कर सकें, तो स्वयम् तो स्वाध्याय करें। ऐसा करने से वे बहुत कुछ स्वामी दर्शनानन्द की मौन वसीअत को पूरा कर सकेंगे। स्वामीजी के परिवारवाले सब आर्य समाजी हैं। आपके भ्राता स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाविद्यालय ज्वालापुर की बहुत सेवा करते रहते हैं, आपके पुत्र और भतीजे आदि भी सब आर्य समाज के भक्त हैं। स्वामीजी ने अपने तन मन धन और विमल प्रतिभा से वैदिक धर्म की जो सेवा की है, उससे प्रत्येक वेदानुयायी आपका ऋणी रहेगा।

—बिहारीलाल काव्यतीर्थ

भूमिका

पाठक गण !

यह भाष्य अति टूटा फूटा है। जबकि मेरे विचार में ही अपूर्ण है, तो और विद्वानों की समझ में कैसे पूर्ण हो सकता है; निदान जहाँ दोष प्रतीत होवे, मुझे सूचित कर दें। यद्यपि प्राचीन सब आचार्य्य जीव ब्रह्म का भेद मानते हैं, जैसा कि व्यास के सूत्रों से निश्चित होता है। आजकल मायावाद का नाम मनुष्यों ने वेदान्त रख दिया है, जो निश्चय उचित नहीं। वेदान्त मनुष्य की आत्मा को बलवान, परोपकारी और पुरुषार्थी बनाता है और मायावाद आलसी और स्वार्थी बनाकर हानि पहुँचाता है। वेदान्ती अन्तःकरण की शुद्धि के कारण निष्काम कर्म करना आवश्यक समझता है और मायावादी निष्कर्म होना ही पसन्द करता है। शंकराचार्य्य तो अपने आदेश (वसीयत) में यह लिखते हैं कि वेद-पाठ नित्य करो और वेदानुकूल कर्म नित्य करो और उनका आचरण भी बताता है कि उन्होंने बुद्ध आदि नास्तिक मतों के खण्डन में इतना पुरुषार्थ किया कि संसार चकित (हैरान) है कि बाईस वर्ष की अवस्था में कार्य्य आरम्भ किया और बत्तीस वर्ष की अवस्था में संसार त्याग दिया; दश वर्ष में इतना कार्य आश्चर्य में डालता है। इधर मायावादियों को जब कहा जाता है कि तुम कुछ उपदेश करके सुधार करो, तो यह कहते हैं कि संसार के काँटे दूर नहीं किये जाते, केवल अपने पग में जूती पहिन लो; तात्पर्य यह है कि जब वर्तमान वेदान्ती गेरुये वस्त्र धारणकर वैराग्य का स्वाँग धारकर स्वार्थ और निष्कर्म-

ण्यता का उपदेश दे रहे हैं, तो वह किस प्रकार वेदान्ती कहा सकते हैं। शंकराचार्य्य आत्मबोध का अधिकार उसको देते हैं; जिसने तप से पापों को नाश करके मन को शुद्ध कर लिया है, जिसने ईश्वर की उपासना से चित्त को शान्त कर लिया है, जिसने वैराग्य का स्वाँग धारण किया है; किन्तु जिसके मन में चक्रवर्ती राज्य पर्यन्त शरीर के सर्व सुख आत्मा के कारण हानि कारक ही सिद्ध हुए हैं। तात्पर्य मायावाद और वेदान्त में अधिक अन्तर है; जिससे मायावादी अविद्या और स्वार्थ में फँसकर उलटे कार्य्य कर रहे हैं। प्रत्येक वेदान्त के पाठ करने वाले को चाहिये कि वह जीवात्मा को नित्य मानकर अभय हो धर्म-प्रचार करे जैसा कि स्वामी शंकराचार्य्य ने कहा है कि प्रत्येक वेदान्त के विचार करने वाले को चाहिये कि वह शरीर को भोग के आधीन करके अपने उद्देश्य अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान की प्रतीति में लग जावे और संसार में जितने विरुद्ध कार्य हो रहे हैं, उनका नाश करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करे। जो मनुष्य खाने-पीने में तो रात-दिन लगे रहते हैं और संसार में परोपकार का ध्यान नहीं करते वह वास्तव में वेदान्त को कलङ्कित करनेवाले हैं। हम मानते हैं कि संसार मिथ्या है, क्या उसका यह प्रयोजन है कि संसार है ही नहीं; किन्तु यह भी मिथ्या है; मुक्ति के कारण जगत् के पदार्थ मिथ्या साधन हैं। जो मनुष्य जगत् के पदार्थों से मुक्ति की इच्छा करते हैं, वह मिथ्या कर्म करते हैं; मुक्ति के लिये कारण ब्रह्म ही केवल सत्य साधन हैं और सब शेष साधन ब्रह्म की प्राप्ति के नहीं, अतः माया के आलस्य को छोड़कर यदि एक भी सच्चा वेदान्ती बन जाये, तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल समझूँगा।

—दर्शनानन्द सरस्वती

वेदान्त दर्शन

अध्याय १

प्रथम पाद

आज हम ऋषि दयानन्द के आज्ञा की प्रथम धारा को पूर्ण करने के विचार से वेदान्त दर्शन का लोक-भाषा में भाष्य आरम्भ करते हैं। अच्छा तो यह होता कि इस कार्य्य को कोई योग्य पंडित आरम्भ करता; क्योंकि महामुनि व्यास जैसे आचार्य्य के बनाये हुए वेदान्त दर्शन का समझना भी आजकल के मनुष्यों में विशेष मस्तिष्कवाले पुरुषों का कार्य्य है। मेरा जैसा अल्प विद्वान् और अल्पावकाशी मनुष्य, जिसका मस्तिष्क भी दुर्बल हो, इस योग्य नहीं हो सकता; परन्तु न तो आर्य्य विद्या सभा अथवा आर्य्य धर्म सभायें ही हैं, जो इन शास्त्रों की उच्च कोटि की व्याख्या कराके ऋषि

दयानन्द के उद्देश्य को पूर्ण करतीं, और न आर्य्य समाज का ध्यान ही इस ओर है, जो ऋषि दयानन्द के उद्देश्य को पूर्ण करने का उद्योग करे; अतः हमने इस वेदान्त दर्शन के टूटे-फूटे भाष्य को उपस्थित करना ही उचित समझा। जनता को इससे लाभ अथवा हानि होगी, यह तो परमात्मा जानता है या जनता स्वयं अनुभव करेगी; परन्तु हम केवल ऋषि दयानन्द के ऋण को उतारने के विचार से इस कार्य्य को आरम्भ करते हैं। यद्यपि यह आवश्यक था कि वेदान्त दर्शन के आरम्भ में भूमिका लिखी जाती; परन्तु हम इसे अन्त में लिखेंगे। हम प्रथम भाष्य आरम्भ करते हैं।

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) अथ के अर्थ हैं—उपरान्त, मङ्गल अथवा अधिकार (अतः) इस कारण (ब्रह्म) सबसे बड़ा सर्वव्यापक परमात्मा को (जिज्ञासा) जानने की इच्छा है।

भावार्थ—धर्मादि ज्ञान के उपरान्त ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं।

जब यह सूत्र ऋषि ने वर्णन किया, उस समय बहुत सी शंकायें उत्पन्न हो गईं, जिन्हें प्रश्नोत्तर-रीति के ढंग पर हम नीचे लिखते हैं।

प्रश्न—यह कथन सत्य नहीं; क्योंकि इच्छा उस वस्तु की होती है, जो उपयोगी और अप्राप्त हो। उपयुक्त तथा अनुपयुक्त का भेद विना ज्ञान के नहीं किया जा सकता; अतः जिस वस्तु की इच्छा होगी, उसका ज्ञान होना आवश्यक है और जिससे घृणा होगी, उसका जाना हुआ होना भी आवश्यक है। यदि यह मान लिया

जाय कि हमसे ब्रह्म जाना हुआ है, तो भी इच्छा नहीं हो सकती; क्योंकि इच्छा अप्राप्त की होती है। जब ब्रह्म ज्ञान प्राप्त है, तो उसकी इच्छा किस भाँति उत्पन्न हो सकती है? निदान दोनों दशाओं में इच्छा न होने से यह सूत्र उचित (सत्य) नहीं है।

उत्तर—प्रथम ब्रह्म जान चुके हैं, जिससे सुख भी मिल चुका है; इस कारण सूत्रकार का ब्रह्म जानने की इच्छा करना उचित है; क्योंकि जिस वस्तु को प्रथम प्राप्त करके सुख प्राप्त कर लिया हो और वह वस्तु न रहे, तो उसकी इच्छा होती है। बन्धन नैमित्तिक है और जिसका किसी काल में होना आवश्यक है। इससे यह मानना पड़ता है कि बंधन से पूर्व मुक्ति थी। मुक्ति ब्रह्म के ज्ञान से होती है। इस कारण इस सूत्र से निश्चित् होता है कि वर्तमान बंधन से पहिले ब्रह्म जाना हुआ था और अंतःकरण के आवरण से वह ज्ञान ढँप गया, जिसको प्राप्त करने को पुनः इच्छा होती है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म स्वयम् अविद्या से अपने आपको भूल गया है, जिससे इसको निज स्वरूप के जानने की इच्छा हुई है अथवा ज्ञाता (Subject) और है और ब्रह्म ज्ञेय (Object) जानने के योग्य और है? यदि ब्रह्म को ब्रह्म के जानने की इच्छा हुई, तो आत्माश्रयी (Petitio Principii) दोष है और यदि जानने की इच्छावाला ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरा चेतन है, तो वेदान्त का सिद्धान्त खण्डन होता है, क्योंकि वेदान्ती एक ही चेतन मानते हैं।

उत्तर—वेदान्तशास्त्र में दो चेतन माने जाते हैं—एक जीव और दूसरा ब्रह्म। आगे बहुत से सूत्र मिलेंगे, जो इस भेद को प्रकट करेंगे। जीव भी अवस्था-भेद से दो प्रकार का हो जाता है—एक बद्ध और

दूसरा मुक्त। बद्ध को जीव और मुक्त को ईश्वर कहते हैं। इस कारण तीन चेतन हुए—एक शुद्ध ब्रह्म, दूसरे जीव और तीसरे ईश्वर। एक चेतन मानकर यह सूत्र ही नहीं बन सकता, न सर्वज्ञ ब्रह्म में भूल आ सकती है और न इसको जानने की इच्छा हो सकती है। जो मनुष्य यह कहते हैं कि अविद्या के आवरण से ब्रह्म अपने स्वरूप को भूल गया, वे बहुत भूल करते हैं; क्योंकि आवरण दो द्रव्यों के बीच तीसरे द्रव्य में आया करता है। जैसे कि ब्रह्म और जीव के बीच जीव की अल्पज्ञता से आवरण आना सम्भव है, परंतु गुण और गुणी के बीच आवरण आने में दृष्टांत का अभाव है। मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म को जानता है और उससे आनंद लेता है और बद्ध अवस्था में ब्रह्म के ज्ञान से रहित होता है; केवल संस्कारमात्र होता है। इस कारण इसके जानने की इच्छा होती है। जब वेदांती छः पदार्थ * तक अनादि मानते हैं, तो अद्वैत और आत्माश्रयी दोष का झगड़ा ही नहीं रहता।

प्रश्न—यद्यपि वेदान्ती छः पदार्थ अनादि मानते हैं; परंतु इनमें से पाँच अनादि सांत और एक अनादि अनंत मानते हैं; इस कारण वेदांत का सिद्धांत द्वैत नहीं है।

उत्तर—जिसका आदि नहीं, उसका अंत भी नहीं हो सकता; क्योंकि पदार्थ नित्य होंगे अथवा अनित्य; इनके अतिरिक्त असम्भव होंगे। नित्य वह है जिसका आदि और अंत न हो और अनित्य वह है जिसका आदि और अंत दोनों हो। नित्यानित्य में तो अनादि सांत पदार्थ नहीं आ सकते, इस कारण इनको असम्भव ही विचार करना उचित है।

---

* जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, अविद्या और चेतन का योग।

प्रश्न—क्या छः अनादि और पाँच सांत का सिद्धांत असत्य है ?

उत्तर—यह सिद्धान्त असत्य तो नहीं है ; परन्तु जिस प्रकार तुम समझ रहे हो, वह असत्य है ; क्योंकि आदि और अन्त दो प्रकार से होते हैं—एक देश के कारण और दूसरे काल के कारण। जो वस्तु काल के कारण अनादि होगी, वह काल के अनुसार तो छः अनादि और अनन्त हैं ही, परन्तु देश के अनुसार ब्रह्म अनादि और अनन्त है और शेष सान्त हैं।

प्रश्न—यदि वेदान्त का सिद्धान्त अद्वैतवाद न होता, तो श्रुति ऐसा क्यों बतलाती कि एक के जानने से सब जाने जाते हैं। *

उत्तर—ब्रह्म सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबके अन्त में जाना जाता है ; इसीलिये ब्रह्मविद्या का नाम वेदान्त रक्खा है और यह सीधी बात है कि अन्त के जानने से पहिले उसके पहलेवाले सब पदार्थ जाने जाते हैं। अतः श्रुति का अर्थ यह है कि एक ब्रह्म जानने के लिये इससे पहिलेवालों का ज्ञान हो ही जायेगा। इस कारण ब्रह्म के जानने से सबका जानना बतलाया, इसमें कोई दोष नहीं।

प्रश्न—जबकि स्पष्ट शब्दों (अक्षरों) में लिखा है कि इस सृष्टि से पहिले आत्मा था, वह एक अद्वैत है ; फिर तुम किस प्रकार भेद मानते हो ?

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक है, जो व्याप्य के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिये आत्मा कहने से व्याप्य-व्यापक या प्रकृति और ब्रह्म दोनों का ग्रहण होता है। इस कारण आत्मा के

---

* तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

होने से तीनों का होना अर्थ से सिद्ध है। जैसे कोई कहे कि एक ही राजा था, परन्तु राजा के कहने से ही उसकी प्रजा और राज्य का ग्रहण हो जाता है; चाहे राजा के साथ प्रजा का शब्द न भी कहा जाय; केवल यही कहा जाय कि एक अद्वैत राजा ही था, जिसका सीधा अर्थ यह होता है कि दूसरा राजा नहीं था। राजा (दूसरे आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण हो जाता है) के अद्वैत कहने से दूसरे राजा का अभाव होता है। प्रजा राज-सामग्री की शून्यता नहीं होती, क्योंकि प्रजा और राज-सामग्री के विना वह राजा कहला ही नहीं सकता।

प्रश्न—अद्वैत का अर्थ हो सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य होना वतलाया है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में भी ऐसा ही लिखा है; अत: ब्रह्म का नाम अद्वैत होने से उससे पृथक् वस्तु विजातीय जीव और प्रकृति का अभाव ही सिद्ध होता है।

उत्तर—विजातीय शब्द दो अर्थों में है—एक विरुद्ध जातीय और दूसरी भिन्न जातीय। यहाँ विजातीय शब्द विरुद्ध जाति अर्थ में आया है अर्थात् ब्रह्म की विरोधी कोई वस्तु नहीं, जो इसके कार्यों को रोक सके। दूसरे जाति कहते हैं जो एक होकर वहुतों में रहे; परन्तु ब्रह्म एक है इस कारण ब्रह्म जाति नहीं। जिसमें जाति नहीं उसमें भिन्न जाति कैसे हो सकती है; इस कारण यह कहना कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद से रहित ही उचित है।

प्रश्न—क्या कोई भी श्रुति अद्वैत को प्रकट करने वाली नहीं?

उत्तर—ब्रह्म जगत् का स्वामी और जीवों का राजा होने से एक है; इस वास्ते इस अद्वैत को कहनेवाली श्रुतियाँ भी सत्य हैं।

प्रश्न—ब्रह्म का लक्षण क्या है ? क्योंकि विना लक्षण और प्रमाण के कोई वस्तु नहीं जानी जाती है।

उत्तर—

जन्माद्यस्ययतः ॥ २ ॥

पदार्थ—(जन्मादि) सृष्टि स्थिति और प्रलय (अस्य) इस जगत् की (यतः) जिससे होती है वह ब्रह्म है।

भावार्थ—जो इस संसार को उत्पन्न करनेवाला, स्थित रखनेवाला और नाश करनेवाला है, वही परमात्मा है—यह लक्षण परमात्मा का किया।

प्रश्न—ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है वा निमित्त कारण वा अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ?

उत्तर—ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, क्योंकि यदि उपादान कारण समझा जावे, तो यह परतंत्र और परिणामी होगा और रूपांतर किसी वस्तु का स्वतंत्रता से नहीं होता। इसमें दृष्टांत का अभाव है ; परंतु ब्रह्म एक रस और स्वतंत्र है। इस कारण ब्रह्म को निमित्त कारण मानना उचित है।

प्रश्न—सूत्र में जो शब्द हैं, उनसे ब्रह्म का उपादान कारण होना पाया जाता है और दूसरे आचार्य्य भी—वह ही अभिन्न निमित्तोपादान (इल्लतेमाद्दी) है ; वह ही निमित्त कारण (इल्लते फ़ायली) है—ऐसा मानते हैं। इस कारण अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ही ब्रह्म को मानना उचित है।

उत्तर—उपादान कारण (इल्लतेमाद्दी) तो सदा परतंत्र और परिणाम वाली (मुतग़ैयर) होती है और निमित्त कारण (इल्लते-

फ़ायली) स्वतंत्र (आज़ाद) और ग़ैरमुतग़ैयर होती है ; इस कारण एक ही वस्तु है । दो प्रकार के विरोधी गुण नहीं रह सकते और ऐसा कोई दृष्टांत नहीं ज्ञात होता, जहाँ उपादान कारण (इल्लतेमाद्दी) और निमित्त कारण (इल्लतेफ़ायली) एक हो और जगत् को देखने से सिद्ध होता है कि ब्रह्म इसका उपादान कारण नहीं ; क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य्य में आया करते हैं अर्थात् कारण के गुण कार्य्य में पाये जाते हैं ; परंतु ब्रह्म के गुण जगत में पाये नहीं जाते ; इस कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं निमित्त कारण मानना ही उचित है ।

प्रश्न—अभिन्न निमित्तोपादान अर्थात् एक मानने में भी दृष्टांत का अभाव नहीं । मकड़ी के उदाहरण से आचार्य्य लोग अभिन्न-निमित्तोपादान सिद्ध कर चुके हैं । मकड़ी बाहर से कोई चीज़ नहीं लेती ; किंतु स्वयं भीतर जाला उत्पन्न करती है अथवा भीतर ही लय कर लेती है ।

उत्तर—जो मनुष्य अज्ञानी हैं, उनकी समझ में यह दृष्टांत अभिन्ननिमित्तोपादान के लिये हो सकता है । ज्ञानी के विचार में तो यह भिन्ननिमित्तोपादान का उदाहरण है ; क्योंकि मकड़ी की आत्मा चेतन है और जाला जड़ । जड़ और चेतन को एक मानना मूर्खों का काम है । यदि मकड़ी का शरीर और आत्मा एक होते, तो कभी मृतक मकड़ी दृष्टिगोचर न होती । मृतक मकड़ी बतलाती है कि इससे चेतन आत्मा पृथक् है ; अतः शरीर मकड़ी का जाले का उपादान कारण है और आत्मा निमित्त कारण है ; अतः इस दृष्टांत से निमित्त और उपादान कारण पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं, जो अभिन्न-निमित्तोपादानकारण-वादियों के मत को खण्डन कर देते हैं । एक रस ब्रह्म जगत् का उपादान कारण हो ही नहीं सकता ; क्योंकि

उपादान कारण होने से परिणामी सिद्ध होता है। चेतन ब्रह्मकर्त्ता वस्तु का उपादान कारण हो ही नहीं सकता; इस कारण इस सूत्र जड़ में ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण बतलाना ही उचित है।

प्रश्न—हम उपादान कारण इस भाँति नहीं मानते जिससे एक रस (ग़ैरमुतग़ैयर) ब्रह्म में परिणाम आ जावे, किन्तु हम तो विवृतोपादान मानते हैं। जैसे भ्रम से रज्जु (रस्सी) में सर्प विदित होता है; कोई रज्जु बदलकर सर्प नहीं हो गई, किन्तु भ्रम से सर्प ज्ञात होता है। ऐसे ही ब्रह्म बदलकर जगत् रूप नहीं हो गया, किंतु भ्रम से जगत्रूप ज्ञात होता है।

उत्तर—ऐसा मानना भी उचित नहीं; क्योंकि विवृत समान आकृति अथवा समान धर्म में होता है अर्थात् जिसकी आकृति अथवा गुणों में समानता हो और पहिले उस वस्तु का ज्ञान भी हो, तब भ्रम होता है; परन्तु भिन्न आकृति और गुणों में भ्रम नहीं होता। रस्सी में सर्प का भ्रम तो हो सकता है; परंतु हाथी-घोड़े का भ्रम नहीं हो सकता। सिप्पी में चाँदी का भ्रम तो हो सकता है; परंतु लोहा और सुवर्ण का भ्रम नहीं होता। अतः जबकि ब्रह्म और जगत् में न तो आकृति मिलती है न धर्म, तो ब्रह्म में जगत् का मान किस प्रकार हो सकता है। दूसरे विवृत किसीको किसीका किसी में होता है और उसमें कोई भी होता है। जैसे मनुष्य को सर्प का भ्रम रस्सी में थोड़ा प्रकाश थोड़े अंधकार के कारण हुआ, जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि बिना चार वस्तुओं की विद्यमानता के भ्रम या विवृत आदि हो ही नहीं सकते, परंतु विवृत-वादियों के पास सिवाय ब्रह्म के कोई वस्तु नहीं, फिर यह विवृत किस प्रकार हो सकता है। जगत् संसार का ब्रह्म निराकार जगत् जड़ ब्रह्म चेतन तात्पर्य यह है कि भ्रम का कोई सामान

ही नहीं और न सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम हो सकता है; क्योंकि न दोपहर के प्रकाश में रज्जु का सर्प ज्ञात होता है, क्योंकि उस समय रज्जु स्पष्ट दिखाई पड़ती है और बिलकुल अंधकार में भ्रम होता है, क्योंकि उस समय कुछ दिखाई नहीं आता। इसलिये भ्रम उस समय होगा, जब कुछ अंधकार और कुछ प्रकाश हो। इससे स्पष्ट प्रगट है कि न तो सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम हो सकता है न प्रकृति को; जब कभी भ्रम होगा, तो अल्पज्ञ जीव को होगा। अविद्यावादियों के मत से ब्रह्म में जब उपाधि हो तब जीव बने और जब तक ब्रह्म से जीव न बने तब तक अविद्या हो नहीं सकती; इस कारण अन्योन्याश्रय दोषयुक्त न होने से यह सिद्धान्त असत्य है।

प्रश्न—क्या वेदांत का सिद्धांत विवृतवाद हो सकता है?

उत्तर—वेदांत का तो यह सिद्धांत ही नहीं। वेदांत का सिद्धांत तो जीव और ब्रह्म में भेद हर प्रकार से सिद्ध है।

प्रश्न—तुम्हारे पास क्या प्रमाण है कि जीव और ब्रह्म का भेद वेदांत मानता है। वेदांत के ग्रंथों में तो यह लिखते हैं कि मैं उस बात को कि जो करोड़ों ग्रंथों में लिखा है अर्द्ध श्लोक में कहूँगा। वह यह है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है उससे पृथक कोई वस्तु नहीं। *

उत्तर—वेदांती जो ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हैं वही भेद-वाद का प्रमाण है। जब वेदांतियों से ब्रह्म का स्वरूप पूछा, तो बतलाया ब्रह्म सत्य है; परंतु यदि ब्रह्म सत्य होता और सब मिथ्या होते, तो लक्षण भी समाप्त हो जाता; क्योंकि जीव और

---

* श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

प्रकृति भी सत्य थे ; इस कारण लक्षण अति व्याप्त हो गया अर्थात् यह गुण जीव और प्रकृति में भी पाये गये ; इसलिये ब्रह्म का लक्षण किया सत्-चित्, जिससे अचेतन प्रकृति तो पृथक हो गई ; परंतु जीव में फिर लक्षण अति व्याप्त हो गया ; क्योंकि जीव भी सत् चित् था ; इस कारण ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानंद किया। अतः ब्रह्म का लक्षण ही तो भेद बतलाता है। श्लोकवाले का अर्थ यह है कि मुक्ति के वास्ते ब्रह्म तो सत् साधन है और जो जगत् को आनंद का साधन मानते हैं वह मिथ्या है। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से वह कभी जीव से परे अर्थात् दूर नहीं, किन्तु इसके अंदर व्यापक है। इस श्लोक में तीन मतों का खण्डन है—एक तो जगत् के आनंद का साधन माननेवाले प्रकृति के उपासक नास्तिक हैं, दूसरे जो ब्रह्म को एक देशी मानकर उसके पास जाने के लिये दूतों (पैग़म्बरों) की आवश्यकता बतलाते हैं, तीसरे जो बौद्ध, जैनी इत्यादि जीव का ब्रह्म हो जाना बतलाते हैं।

प्रश्न—यदि ब्रह्म और जगत् में समान आकृति न होने से जगत् विवृत नहीं, तो हमारा ऐसा मत है कि जगत् माया का परिणाम और अवष्टान चेतन का विवृत अर्थात् साकार जगत् तो माया का परिणाम है विवृत और निराकार जीवात्मा ब्रह्म का विवृत जीव और ब्रह्म में समान आकृति और समान धर्म हैं ही इस कारण विवृत इसके होने में कोई शंका नहीं।

उत्तर—यदि तुम माया को नित्य मानकर जगत् को इसका परिणाम मानते हो, तो तुम्हारे सिद्धान्त की हानि हो गई ; क्योंकि दूसरी वस्तु नित्य हो गई। यदि माया को अनित्य मानकर उसका परिणाम बतलाते हो, तो माया का उपादान कारण क्या है? यदि कहो ब्रह्म, तो ब्रह्म में भी वही दोष आ जायँगे, जो जगत्

का उपदान कारण (इल्लतेमाद्दी) मानने से आते हैं। यदि कोई माया का और कारण मानोगे, तो उसके लिये भी यह ही प्रश्न होगा कि वह नित्य है वा अनित्य? नित्य मानने में तुम्हारे सिद्धान्त की हानि होगी और अनित्य मानने में अनवस्था दोप आ जायेगा। निदान इन दशाओं में तुम्हारा मत गिर जायगा। जीव को ब्रह्म का विवृत मानना भी उचित नहीं; क्योंकि जिस स्वरूप सर्प का रज्जु में भ्रम होता है, वह पहिले सिद्ध होता है। ऐसे ही यदि पहिले जीव को सिद्ध मानोगे, तो विवृत जीव को मानना निपट मूर्खता होगी। यदि पहिले सिद्ध न मानोगे, तो स्मृति ज्ञान न होने से हो नहीं सकता। तीसरे जीव का ब्रह्म में भ्रम किसको हुआ? यदि कहो ब्रह्म को, तो हो नहीं सकता; क्योंकि वह सर्वज्ञ है। यदि कहो जीव को, तो उसकी सत्ता ही नहीं; वह तो भ्रम से भान होता है। जिसको मालूम होता है वह जीव से पृथक् है। इस कारण यह सिद्धान्त भी सत्य नहीं; केवल अपंडितों को चक्र में डालने के लिये गढ़ा गया है।

प्रश्न—हम माया को अनिर्वचनीय मानते हैं और हमारी माया ऐसी है कि इसे हम न तो असत् कह सकते हैं और न सत्; अतः इस दशा में कोई दोप नहीं आता।

उत्तर—माया को अनिर्वचनीय कहना उचित नहीं; क्योंकि माया को किसी प्रमाण से मानते हो वा बिना प्रमाण ही मान लिया। यदि कहो प्रमाण से जान लिया है, तो वह प्रमेय है और प्रमाता प्रमेय को लक्षण और प्रमाण से जानता है। इस कारण वह अनिर्वचनीय नहीं रहे। यदि उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, तो उसका होना ही क्यों मानते हो?

प्रश्न—हम माया को सत्-असत् से विलक्षण इस हेतु

मानते हैं कि सत् में तो परिणाम एक रस होने से नहीं होता ; परंतु माया में परिणाम है, इस कारण वह सत नहीं कहला सकती। असत् मानने से उसका कारण मानना पड़ता है ; परन्तु माया का कोई कारण नहीं, इसलिये अनित्य अर्थात् असत् भी नहीं। अतः सत (नित्य) असत् (अनित्य) से विलक्षण मानते हैं, जिसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

उत्तर—परिणाम किसी वस्तु को अनित्य सिद्ध नहीं कर सकता ; किन्तु वह कार्य्यवाही वस्तु अनित्य होती है। इस कारण परिणाम होने से भी प्रकृति सत् से पृथक् नहीं हो सकती। यदि प्रकृति में विकार होता, तो वह असत् कहलाती ; परन्तु प्रकृति में विकार नहीं। जिस प्रकार जीव आत्मा अन्य शरीरों में जाकर उस रूप का हो जाता है ; परन्तु स्वरूप की न्यूनता अधिकता न होने से अनित्य नहीं होता ; क्योंकि उसमें विकार नहीं आता। इस प्रकार परिणाम होने पर भी प्रकृति असत् नहीं हो सकती।

प्रश्न—विकार और परिणाम में क्या अंतर है और विकार कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—जिसमें रूप का परिवर्त्तन हो और परमाणुओं में न्यूनता अथवा अधिकता न हो, उसे परिणाम कहते हैं और जिसमें परमाणुओं का परिवर्त्तन हो, उसे विकार कहते हैं। वह छः प्रकार के हैं—उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, दशा परिवर्तन करना, घटना और नाश होना। यह छः विकार हैं।

प्रश्न—जबकि विकारों में दशा-परिवर्तन है और परिणाम में भी रूप का परिवर्तन है; तब प्रकृति असत् कहला सकती है ?

उत्तर—जब परमाणु वही रहे और रूप बदल जावे, तो उसे

परिणाम कहते हैं और जब परमाणुओं के परिवर्त्तन के कारण दशा बदले, तब विकार कहलाता है। इस कारण दशा का परिवर्त्तन और परिणाम एक नहीं। इससे प्रकृति असत् नहीं हो सकती।

शंका—ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने से वह परतंत्र और अचेतन होता है और निमित्त चेतन होता है।

समाधान—इस भ्रम को दूर करने के कारण सूत्रकार कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

पदार्थ—(शास्त्र) मनुष्य को नियमपूर्वक चलाने वाले ऋग्वेदादि शास्त्रों का (योनित्वात्) कारण होने से।

भावार्थ—ऋग्वेदादि बड़े शास्त्रों का कारण ब्रह्म है; इस कारण ब्रह्म अचेतन और उपादान कारण नहीं, वरन् चेतन अथवा निमित्त कारण है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म ने ऋग्वेदादि के अन्दर जो ज्ञान है उत्पन्न किया है या उन पुस्तकों को लिखा है?

उत्तर—ब्रह्म ने उस ज्ञान को जो ऋग्वेदादि के अन्दर है दिया है; इस कारण इस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। पुस्तक तो चिरकाल तक पठन-पाठन के उपरान्त लिखे गये हैं; इसी कारण इनका नाम श्रुति है।

प्रश्न—यह नियम है कि द्रव्य से द्रव्य उत्पन्न होता है और गुण से गुण। ब्रह्म जो द्रव्य है, उससे ज्ञान गुण किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? ज्ञान तो आत्मा का गुण है, जिसका आत्मा के साथ सम्वाय सम्बन्ध (लाज़िमो मलज़ूम) का सम्बन्ध है, इस कारण ब्रह्म और ज्ञान में कार्य्य-कारण सम्बन्ध

(Relation of cause and effect, इल्लतोमालूल) नहीं हो सकता।

उत्तर—कर्ता दो प्रकार से होता है—प्रथम संयोग करने से, द्वितीय वियोग करने से। यद्यपि वेद ब्रह्म का ज्ञान गुण है; परन्तु जीवों के लिये अनंत ज्ञान में से मुक्ति के योग्य ज्ञान पृथक् करने के कारण ब्रह्म ज्ञान का कर्ता कहाता है; क्योंकि अपने अनंत ज्ञान में से वेदों के ज्ञान को विभाग करता है।

प्रश्न—ज्ञान गुण होने से निराकार है; निराकार अखंड होने से उसका विभाग हो नहीं सकता; इस कारण ईश्वर को वेदों का कर्ता कहना उचित नहीं। यदि निराकार का विभाग अर्थात् भाग हो सके, तो ईश्वर के भी खंड हो जावेंगे।

उत्तर—जिस प्रकार निराकार आकाश के घर मठादि कारणों से विभाग किया जाता है, ऐसे ही ज्ञान गुण का शब्दार्थ सम्बंध से विभाग होता है। इस शब्दार्थ से सम्बन्ध का कर्ता ईश्वर है। इस कारण ईश्वर वेदों का कर्ता कहाता है; किंतु ईश्वर सर्वव्यापक है, इस कारण उसके खण्ड नहीं होते।

प्रश्न—जब ईश्वर सर्वव्यापक है, तो उसका गुण (ज्ञान) भी सर्वव्यापक होगा; इस कारण ज्ञान के खंड नहीं हो सकते। जब ज्ञान के खण्ड न हुए, तो विभाग कहाँ से कहलायेगा; जो वेदों की उत्पत्ति का कारण है। जब विभाग उपस्थित ही नहीं, तो ईश्वर वेदों का कर्ता किस प्रकार कहा सकता है।

उत्तर—जिस प्रकार गृह बनाने से निराकार अथवा सर्वव्यापक आकाश मठाकाश कहाता है और दूसरे आकाश से भिन्न सूरत वाला ज्ञात होता है; अतः वास्तव में आकाश के खंडन ही होते; परंतु उपाधि से घटाकाश और गृह के आकाश में भेद प्रतीत

होती है और उसे औपाधिक भेद से भाग कहलाता है; जिससे ईश्वर वेदों का कर्ता कहाता है।

प्रश्न—किंतु गुण और गुणी का समवाय (लाज़िमो मलज़ूम) का सम्बंध होता है; इस कारण ईश्वर स्वयम् ज्ञान को पृथक् नहीं कर सकता है, तो वह दूसरे को किस प्रकार दिया जा सकता है। इस कारण वेदों का ज्ञान ईश्वर जीवों को दे नहीं सकता, जिससे यह सूत्र उचित नहीं।

उत्तर—ईश्वर प्रत्येक जीव के भीतर व्यापक है; इस कारण प्रत्येक जीव ईश्वर के ज्ञान को ले सकता है। यदि चलने की शक्ति जीव में हो, तो वह शक्ति क्या है: मन का पवित्र होना। जिसका मन संस्कार से रहित होगा, उसमें ईश्वर के ज्ञान वेदों का प्रकाश होगा। जबकि ईश्वर आदि सृष्टि में मुक्ति से लौटने वाले जीवों का शुद्ध मन जिसमें किसी प्रकार का संस्कार नहीं होता रहता है उससे जीव उसके ज्ञान को अनुभव करते हैं और जीवों की अल्पज्ञता के कारण ईश्वर का पूर्ण ज्ञान तो जीवों के अन्दर आ नहीं सकता, इस कारण ईश्वर जीवों को उपदेश करता है कि तीन प्रकार की वस्तुयें हैं—एक वह जिनको प्राप्त करने का विचार उत्पन्न होता है, दूसरे वह जिनको छोड़ने का विचार उत्पन्न होता है, तीसरी वह जो न तो छोड़नी आवश्यक है न प्राप्त करनी आवश्यक है। इसमें उदासीन वृत्ति उत्पन्न होती है; अतः प्राप्त करने और छोड़ने योग्य वस्तुओं का ज्ञात होना तो आवश्यक है; परंतु वह वस्तु जिनका ज्ञान होना न होना मुक्ति का कारण नहीं और नहीं इससे बंधन उत्पन्न होता है; उसमें जीव उदासीन वृत्ति रखता है अर्थात् इनके जानने का यत्न करना मुख्य उद्देश्य को लुप्त कर देता है। वेदों के अतिरिक्त मनुष्य को यह अन्तर नहीं

ज्ञात होता कि कौनसी वस्तु का जानना आवश्यक है, कौनसी वस्तु के न जानने से कोई हानि नहीं और जानने से लाभ नहीं।

प्रश्न—ऐसी कौनसी वस्तु है कि जिसके न जानने से जीव के सुख-दुःख में कोई अंतर नहीं आता। जीवों की संख्या (तादाद) के ज्ञान से कोई सुख उत्पन्न नहीं होता और न जानने से दुःख नहीं होता। ऐसे विकृति की संख्या का ज्ञान होना और न होना भी एकसाँ है। ऐसे ही और भी अनेक वस्तुयें हैं, जिनके ज्ञान से हमारे कर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न जानने से कोई दोष आता है।

प्रश्न—कोई कार्य्य विना स्वार्थ नहीं किया जाता, इस कारण प्रत्येक ग्रन्थकार चार अनुबन्ध अवश्य ही ध्यान में रखते हैं—एक प्रयोजन अर्थात् एक बनाने का उद्देश्य, दूसरे अधिकारी जिसके कारण वह ग्रन्थ रचा जाता है; तीसरे विषय अर्थात् उसके अन्दर क्या विषय है, चतुर्थ सम्बन्ध अर्थात् इस ग्रन्थ के विषय से क्या सम्बन्ध है। यदि ईश्वर ने वेद रचे हैं, तो उनके अनुबन्ध क्या हैं? वेद रचने का प्रयोजन तो जीवों को तत्त्वज्ञान देना है; जिससे वह मुक्ति प्राप्त कर सकें। अधिकारी मोक्ष की इच्छावाले जीव हैं और विषय सब सत्य विद्या; क्योंकि वेद में प्रत्येक विद्या का बीज मौजूद है और सम्बन्ध मुक्ति का परम्परा से हेतु और प्रयोजक है।

प्रश्न—मुक्ति तो जीवों की होगी; ईश्वर का इसमें क्या सम्बंध है?

उत्तर—ईश्वर का अपना तो कोई प्रयोजन नहीं; किन्तु उसका स्वभाव ही दयालु है; जिससे वह जीवों के सुख के कारण सृष्टि और वेद बनाता है।

प्रश्न—ईश्वर के होने में प्रमाण क्या है, क्योंकि जिज्ञासुओं के जानने के कारण लक्षण और प्रमाण ही होते हैं ?

उत्तर—ईश्वर के होने में और जगत् के करने में अनुमान प्रमाण हैं और शास्त्र वेद प्रमाण होने से शब्द प्रमाण है। वेद के बिना ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होना कठिन है। अनुमान से सत्ता का ज्ञान होता है और शब्द और मानसिक प्रत्यक्ष से स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रश्न—वेद का कर्ता ईश्वर है; इस कारण ईश्वर के होने पर वेद का होना निर्भर है और ईश्वर के होने में वेद प्रमाण है; निदान अन्योन्याश्रय दोष (argument in circle) है।

उत्तर—ईश्वर की सत्ता अनुमान प्रमाण और मानसिक प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है, इस कारण केवल वेद पर ही निर्भर नहीं; किन्तु ईश्वर के गुणों के ज्ञान के अर्थ प्रमाण है। जबकि ईश्वर की सत्ता दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध है, अन्योन्याश्रय दोष नहीं। जिस प्रकार पिता का होना तो पुत्र पर आवश्यक है और पुत्र का होना पिता पर; परन्तु पिता की सत्ता तो पुत्र पर आवश्यक नहीं। इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं कहाता। जो मनुष्य ब्रह्म के बिना दूसरी वस्तु को जगत् का निमित्त कारण स्वीकार करते हैं और प्रकृति के स्वभाव को ही जगत् का कारण मानते हैं, उनकी शङ्का निवारण करने के कारण महर्षि वेदव्यास सूत्र को प्रस्तुत करते हैं कि जगत् का कारण ब्रह्म ही है। वेदान्त के सर्व विद्वान् अर्थात सर्वज्ञ ज्ञानी इस पर एक मत हैं।

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तत्) इसमें (तु) आक्षेपकर्त्ता के उत्तर

के लिये आया है। (समन्वयात्) सब विद्वानों के लेखों का एक मत होने से वा सबका उसमें सम्मत होने से।

भावार्थ—वह सर्वज्ञ ब्रह्म सब वेदान्त शास्त्र के विद्वान् मनुष्यों के विचार में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का कारण है।

प्रश्न—किस प्रकार समन्वय सिद्ध होता है?

उत्तर—सब वेदान्त के पक्ष जो सृष्टि आदि के सम्बन्ध से इसमें घट सकते हैं।

प्रश्न—उपनिषदों में लिखा है—इस सृष्टि से पूर्व सत् अर्थात् प्रकृति ही थी * क्योंकि सत् शब्दों से प्रकृति का ग्रहण होता है।

उत्तर—निश्चय सत् शब्दों से प्रकृति का ही ग्रहण होता है; परन्तु जीव और ब्रह्म के सत् होने से इनका भी ग्रहण होता है। यदि सत् शब्द से प्रकृति को लें, तो इन श्रुतियों के साथ विरोध हो; इस कारण सत के अर्थ ब्रह्म ही लेना उचित है।

प्रश्न—ब्रह्म की सत्ता का प्रमाण न होने से प्रकृति जो सिद्ध है वह ही लेना उचित है; क्योंकि जगत् बनता तो किसीने देखा नहीं और प्रकृति अर्थात् परमाणुओं से सर्व वस्तुयें बनती प्रतीत होती हैं; इस कारण प्रकृति लेना ही उचित है।

उत्तर—प्रकृति से जगत् का बनना, बिगड़ना और स्थिर रहना असम्भव होने से ब्रह्म ही होता है; क्योंकि प्रकृति परमाणु (जर्रो) की दशा का नाम है। अब विचार यह उत्पन्न होता है कि परमाणुओं की क्रिया स्वाभाविक है वा नैमित्तिक। यदि कहो कि परमाणुओं में प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक है, तो वह आपस में

---

* सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

छान्दोग्योपनिषद् अ० ६ ख० २ मं० १

मिल नहीं सकते और विना परमाणुओं के सम्मिलित कोई वस्तु बन नहीं सकती है; क्योंकि परमाणु (atom, जर्रे) सजातीय (हमजिंस) होने से एक ही बल और एक रूप रखते होंगे; इस कारण उनकी क्रिया (हरकत) सम होगी, तो चाहे वह किसी ओर क्रिया करें मिलाप असम्भव है। दूसरे यदि परमाणुओं का स्वभाव आपस में मिलना स्वीकार किया जावे, तो उत्पत्ति भी मान सकते हैं, परन्तु नाश किससे होगा और प्रकृति के स्वयम् सक्रिय होने से निष्क्रिय वस्तुओं का दृष्टिगोचर होना असम्भव है; इस कारण प्रकृति से जगत् नहीं बन सकता। ब्रह्म को जगत् का कारण मानना चाहिए। प्रकृति में बनना, बिगड़ना और स्थिर रहना तीन प्रकार की शक्ति चेतन के विना नहीं हो सकती; पुनः प्रकृति कर्त्ता किस प्रकार मानी जा सकती है।

प्रश्न—एक ही ब्रह्म को मानकर भी जगत् की उत्पत्ति असंभव होगी; क्योंकि उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—संयोग (combination) अर्थात् मिलाप से, वियोग (disintegration) अर्थात् तफ़रीक़ से। जब ब्रह्म एक है, उसके कण (टुकड़े) नहीं हैं, जिनके संयोग से सृष्टि बन सके और न निराकार के टुकड़े हो हो सकते हैं इस कारण वियोग से भी सृष्टि नहीं हो सकती। जब ब्रह्म से सृष्टि बनना असम्भव ही है, तो यह दोष दोनों में बराबर है; परन्तु प्रकृति प्रत्यक्ष होने से उसके कार्य बनते-बिगड़ते देखने से प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानना ही उचित है।

उत्तर—ब्रह्म एक ही है इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु जगत् का उत्पन्न करनेवाला, स्थिति रखनेवाला और प्रलयकर्ता है। वेदान्त शास्त्र कर्ता का वाद करता है न कि उपादान कारण अर्थात् इल्लतेमादी का। प्रकृति जगत् का उपादान कारण (इल्लतेमादी) है

और ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण (इल्लतेफ़ायली) है। जो मनुष्य वस्तु को ही इल्लतेमादी और फ़ायली दोनों स्वीकार करते हैं; वह असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं। यदि केवल प्रकृति से जगत् बन जाता है, तो कुम्हार के बिना घड़ा और बिना जुलाहे के वस्त्र बनने चाहियें। इस कारण यह मानना पड़ता है कि केवल प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानने और केवल ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण अर्थात् इल्लते फ़ायली मानने से उचित व्यवस्था हो सकती है।

प्रश्न—यदि दोनों कारण पृथक्-पृथक् स्वीकार किये जावें, तो ऊपर की श्रुतियों में विरोध होगा; क्योंकि इस जगत् से पहले आत्मा ही था ❋ और "सत्" स्वीकार किया गया है।

उत्तर—ब्रह्म के लक्षण करने से ही सब झगड़ा समाप्त हो जाता है; क्योंकि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप बतलाया जाता है, जो तीन शब्दों से बना है। सत् जिसका अर्थ आदि और अन्त से रहित अर्थात् वाजिबुलवजूद है। यदि वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्त में एक ही नित्य वाजिबुलवजूद होता, तो ब्रह्म के कारण सत् का शब्द उचित था, चित् अथवा आनन्द के कहने की आवश्यकता ही न पड़ती; इस कारण सत्य तीन हैं—जीव ब्रह्म अथवा प्रकृति। इस कारण प्रकृति से ब्रह्म पृथक् दिखलाने के कारण चित् अर्थात् ज्ञानवाला (मुदरिक) कहा। यदि वेदान्त शास्त्र के आचार्य्य जीव और ब्रह्म को एक मानते, तो ब्रह्म के कारण सत्, चित् यह लक्षण पर्याप्त होता; परन्तु जीव ब्रह्म का भेद है इस कारण ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द बतलाया। अतः जहाँ सृष्टि से पूर्व

❋ आत्मैवेमाग्र आसीत्।

बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१

सत् बतलाया है, उसका आशय तीनों से है; क्योंकि सत् तीन हैं— सृष्टि से पूर्व एक आत्मा था इससे भी तीनों का विधान होता है; क्योंकि आत्मा शब्द के अर्थ व्यापक के हैं, जो विना व्याप्य (मुहीत) के हो नहीं सकता; इस कारण आत्मा के शब्दार्थ * से दो का विधान हो जाता है—एक वह जो व्यापक है, दूसरे वह जिसमें व्याप्य व्यापक है। व्याप्य इस कारण प्रकृति में आत्मा के व्यापक होने से आत्मा शब्द से प्रकट हो जाती है; दूसरे आत्मा दो हैं—शरीर में व्यापक होने से जीव आत्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा। इस कारण सत् के शब्द में जीव ब्रह्म प्रकृति उपस्थित है। आत्मा शब्द से भी तीनों प्रकट होते हैं।

प्रश्न—सब पण्डित तो यह मानते हैं कि वेदान्त शास्त्र में एक ब्रह्म का विचार है और तुम तीन मानते हो; अब तुम्हारी बात मानें या सब विद्वानों को ?

उत्तर—निश्चय वेदान्त शास्त्र एक ब्रह्म के विचार के हेतु बनाया गया जैसा कि इसके पहिले सूत्र से प्रकट है; परन्तु वह जीव और प्रकृति का निषेध नहीं करता; किन्तु सैकड़ों श्रुतियां † प्रकृति और जीव की सत्ता का प्रमाण देती हैं, इस कारण वेदान्त दर्शन जगत् के निमित्त कारण और ज्ञान का अन्तिम उद्देश्य

---

* अतातिव्याप्नोति † आत्मा—अत् सातत्यगमने धातु से मनिन् प्रत्यय।

† अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इस मंत्र में अजा प्रकृति और हृष्टा और भोक्ता या अज ब्रह्म और जीव का स्पष्ट वर्णन है; ऐसे कई मंत्र हैं।

अथवा मुक्ति के सत्य कारण ब्रह्म का ही विचार करता है। शेष जगत् के कारणों का कथन पहिले पाँच शास्त्रों में आ चुका है; इस कारण पहिले ही सूत्र में अथ शब्द दे दिया है अर्थात् प्रमाणादि के बतलानेवाले शास्त्रों के ज्ञान में अनन्त ब्रह्म के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है।

प्रश्न—वेदान्त के जिस श्लोक में बतलाया है कि मैं आधे श्लोक में बतलाऊँगा जो करोड़ों ग्रन्थों ने बताया है अर्थात् ब्रह्म-सत्य और जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म में भेद नहीं है; क्या यह श्लोक मिथ्या हो सकता है?

उत्तर—यह श्लोक मिथ्या नहीं, परन्तु तुम्हारी बुद्धि की कमी है; क्योंकि इस श्लोक में प्रकृति को मिथ्या नहीं बतलाया, न जीव ही को; किन्तु जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य बतलाया है अर्थात् मुक्ति के लिये ब्रह्म सत्य साधन और जगत् मिथ्या साधन है। जो मनुष्य ब्रह्म से आनन्द की इच्छा रखते हैं, वह सत्य पर हैं और जो मनुष्य विषयों में आनन्द ढूँढते हैं; वह मिथ्या ज्ञान है।

प्रश्न—इस श्लोक में तो यह बतलाया कि जीव और ब्रह्म में भेद नहीं।

उत्तर—उचित तो बतलाया कि जीव ब्रह्म से दूर नहीं। जिस प्रकार आँख और सुर्मा दो वस्तुयें होते हुए भी उसमें दूरी नहीं होती। इस कारण ऐ जीव! तू मुक्ति के कारण जगत् में भटकता हुआ मत फिर। वह ब्रह्म तुझसे दूर नहीं, बिलकुल निकट है; केवल जो तुझे दर्पण ब्रह्म के देखने के कारण दिया उसको ठीक करने की आवश्यकता है।

प्रश्न—वह दर्पण कौनसा है, जिसके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है?

उत्तर—वह दर्पण मन है; क्योंकि उपनिषत्कारों ने लिखा है कि यह ब्रह्म मन ही से जाना जाता है। इस स्थान में अनेक वस्तुएँ नहीं हैं। वह मनुष्य बार-बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं, जो उस स्थान में अनेक वस्तुओं को जानते हैं।

प्रश्न—देखो श्रुति स्पष्ट शब्दों में बतला रही है कि जो मनुष्य उसके स्थान में अनेक वस्तुओं को जानते हैं, वह बार बार जन्म पाते हैं अर्थात् मुक्ति से वंचित रहते हैं।

उत्तर—निश्चय हो जिस प्रकार आँख के भीतर केवल सुर्मा ही होता है, अनेक वस्तुएँ नहीं होतीं; इसी प्रकार जीवात्मा के अन्तःकरण में केवल परमात्मा ही रह सकते हैं। सूक्ष्म वस्तु में स्थूल वस्तु नहीं रह सकती; किन्तु स्थूल में सूक्ष्म वस्तु रहा करती है; क्योंकि प्रकृति जीव से स्थूल है इस कारण वह जीव के भीतर रह सकती है। जीव के भीतर केवल ब्रह्म ही रह सकता है। इस कारण जो जीव के भीतर बहुत सी वस्तुएँ देखता है, वह मुक्ति नहीं पा सकता।

प्रश्न—मनुष्यों का कथन है कि ब्रह्म मन अथवा इन्द्रियों का विषय नहीं और श्रुति* बतलाती है कि ब्रह्म मन से नहीं जाना जाता; परन्तु कठोपनिषद् † में लिखा है कि ब्रह्म मन से ही जाना जाता है। इन दो परस्पर-विरुद्ध वाक्यों में से कौन सत्य है? आपस के विरोध से दोनों अशुद्ध प्रतीत होती हैं अर्थात् ब्रह्म है ही नहीं।

उत्तर—दोनों में विरोध नहीं; क्योंकि मन की दो दशायें हैं—

---

* यन्मनसा न मनुते यच्चक्षुषा न पश्यति यच्छ्रोत्रेण न शृणोति।

कठोपनिषद् ख० १ मं० ४, ५

† मनसैवेदमाप्तव्यम्।

कठोपनिषद् अ० २ व० ४ मं० ११

एक मल विक्षेप और आवरण से युक्त मन, दूसरा इन दोनों से रहित। जिस दशा में मन इन दोनों से युक्त होता है, उस समय मन से ब्रह्म नहीं जाना जाता और जब मन इन दोनों से पवित्र होता है, तब ब्रह्म को जान सकता है।

प्रश्न—सब आचार्य्य तो वेदान्त का भाष्य करते हुए जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं, तुम द्वैत की ओर ले जाते हो। देखो रत्नप्रभा टीका लिखनेवाले गोविन्दानन्द लिखते हैं कि जीव ब्रह्म ही है; आत्मा होने से ब्रह्म का प्रकाश क्या यह झूठ हो सकता है?

उत्तर—यह अनुमान अशुद्ध है; क्योंकि जीव का ब्रह्म होना साध्य और ब्रह्म दृष्टान्त है। यह तो ऐसा अनुमान है जैसे कोई कहे कलक्टर एडवर्ड है। अधिकारी होने से एडवर्ड की भाँति अथवा अग्नि जल है द्रव्य होने से जल की भाँति; इस प्रकार के हेत्वाभास अशुद्ध उदाहरण तीनों सिद्धान्तों को बिगाड़ देते हैं।

प्रश्न—निश्चलदास भी विचार-सागर में ऐसा अनुमान करते हैं कि जीव ब्रह्म से अभिन्न हैं। चेतन होने से क्या यह भी उचित नहीं?

उत्तर—संसार में जितनी वस्तुयें हैं, इनमें गुणों में अनुकूलता और प्रतिकूलता अवश्य साधर्म्य वैधर्म्य से होती है। किसी एक गुण के मिल जाने से दो वस्तुओं का एक होना सत्य नहीं। इस प्रकार हेत्वाभास अर्थात् मुगालता देना अविद्या है अथवा स्वार्थ है। कोई कहे मनुष्य गधा है, जीवधारी होने से—इस हेतु को कौनसा बुद्धिमान् स्वीकार करेगा? कोई विद्वान् व धर्मात्मा पुरुष इस प्रकार का धोखा नहीं दे सकता।

प्रश्न—इसमें क्या धोखा है?

उत्तर—पहिले तो प्रतिज्ञा (दावा) में दो बातें होती हैं—

एक पक्ष (मौजूं) दूसरा साध्य (मोहसूल)। अब प्रश्न यह है कि जीव को यदि पक्ष माना जावे, तो ब्रह्मत्व उसमें साध्य हो जाता है; परन्तु ब्रह्मत्व केवल ब्रह्म के दूसरे में नहीं रह सकता। यदि केवल जीव और ब्रह्म इन दोनों को सधर्मी मान लिया जावे; परन्तु इस दशा में जो लक्षण पृथक्-पृथक् किये गये हैं, वे अशुद्ध हो जावेंगे; क्योंकि जीव का लक्षण है अविद्या उपाधि से ढका हुआ चेतन और ब्रह्म है शुद्ध चेतन। किसी एक गुण मिलने से पदार्थत्व (नवय्यत या जिंसियत) तो हो सकता है—यथा सब देहधारियों में चाहे गधा हो या मनुष्य प्राणित्व अवश्य होगा। इस जिंसियत और नवय्यत से दो विरुद्ध रूप एक नहीं हो सकते। आत्मपन और चेतन दोनों जाति हैं, जो एक में वास ही नहीं करतीं; किन्तु मुताहिद में जो भिन्न व्यक्तियों में से अनुकूलता है उसको प्रकट करती हैं। इस कारण जाति को एकता का हेतु बतलाना अज्ञान है या धोखा है। यदि इन मनुष्यों ने यह युक्ति सचाई से दी, तो वे अज्ञानी थे; यदि जानते हुए दी, तो धोखे-बाज़ थे।

प्रश्न—इतने उच्च विद्वानों को ऐसा कहना किसी प्रकार उचित नहीं। उनके ग्रन्थ लाखों साधु और पंडित पढ़ते हैं। तुम उनको अविद्वान् कहते हो।

उत्तर—निःसन्देह लाखों मनुष्य उनके ग्रन्थों को पढ़ते हैं, जिससे वह विद्या के स्थान में अविद्या प्राप्त करते हैं। यह लोग शब्दों के पंडित होंगे; परन्तु अर्थ में पग-पग पर ठोकरें खाते हैं।

प्रश्न—निश्चलदास की भी विद्या तो मानी हुई है; उसको केवल शब्दों का पंडित कहना ठीक नहीं।

उत्तर—अविद्या दो प्रकार से उत्पन्न होती है—एक इन्द्रियों के

दोष से, दूसरी संस्कार-दोष से। इन मनुष्यों में बालकपन से ही इस प्रकार के अशुद्ध संस्कार डाले गये, जिससे उन्होंने स्वयम् अविद्वान् होकर कुल देश में अविद्या फैला दी।

प्रश्न—अविद्या का कोई प्रमाण दे सकते हो? उनको तो सब आचार्य्य मानते हैं।

उत्तर—विचार सागर का प्रथम दोहा पढ़ो—

अलख अगाधि-स्वरूप मम लहरी विष्णु-महेश।

यदि वह इतना ही समझता कि विष्णु भी सर्वव्यापक, महेश भी सर्वव्यापक और लहर एक देशी समुद्र में हुआ करती है सर्वव्यापक में नहीं होती, तो ऐसा अण्डबण्ड न लिखता।

प्रश्न—ब्रह्म के जगत्कर्ता होने और प्रकृति के कर्ता न होने में क्या प्रमाण?

उत्तर—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

पदार्थ—(ईक्षतेः) ज्ञानपूर्वक (न) नहीं (अशब्दम्) वेद से बाहर।

भावार्थ—प्रकृति जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकती; क्योंकि उसमें ज्ञान न होने से जो उपनिषदों * ने बतलाया है।

ईक्षण अर्थात् ज्ञानपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती और इस जगत् में सब कर्म ज्ञान के सहित दिखाई देते हैं। प्रबन्ध, भूगोलों की गति, ऋतुओं का परिवर्त्तन, चन्द्र-सूर्य ग्रहादि का निश्चित समय पर नियम के अनुकूल होना बतला रहा है कि जगत्

* स ईक्षते मेनुलोको लोकपालान्नुसृजा इति।
ऐतरयोपनिषद् अ० १ खं० २ मं० २

ज्ञान के अनुकूल बनाया गया है और ज्ञान से रहित प्रकृति में ज्ञान के अनुकूल कर्म करने की शक्ति नहीं; इस कारण उपनिषदों ने जहाँ-जहाँ लिखा है कि जगत् से पहिले सत् था इससे अर्थ ब्रह्म का ही लेना चाहिये; क्योंकि आगे लिखा है—उसने ईक्षण * किया अर्थात् ज्ञानपूर्वक बहुत प्रकार के प्रजा बनाये।

प्रश्न—उसने अपने स्वरूप से बहुत प्रकार के प्रजा बनाये या उसका उपादान कारण पृथक् था अथवा बहुत प्रकार के प्रजा बनाने में जो उसकी इच्छा हुई उसका क्या कारण था?

उत्तर—परमात्मा के नित्य होने से उसके सब गुण भी नित्य हैं। वह ईश्वर है इस कारण उसका ऐश्वर्य अर्थात् प्रजा प्रकृति भी नित्य है और वह त्रिकाल में रहने वाला राजा है इस कारण उसकी प्रजा जो जीव है वह तीन काल में रहनेवाले हैं। जीव हैं तो सब एक प्रकार के; परन्तु अनेक प्रकार से परतन्त्र होते हैं; जब वह कर्मों के कारण कर्मयोनि, भोगयोनि और उभययोनि अर्थात् कर्म करनेवाले और भोगनेवाले बनते हैं। परमात्मा इच्छा से कर्म नहीं करता; किन्तु उसके ज्ञानबल और क्रिया सब स्वाभाविक हैं; इस कारण उसने नित्य ऐश्वर्य प्रकृति में से अनेक प्रकार के शरीर देकर अनेक प्रकार का बना दिया यह प्रयोजन है।

प्रश्न—क्योंकि प्रधान में सतगुण हैं; इस कारण उसको ज्ञानवाली स्वीकार करने में ईक्षण हो सकता है।

---

* सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

छा० उ० अ० ६ ख० २ मं० १

तदैक्षत् बहुस्याम् प्रजायेयेतितत्तेजोऽसृजत्

छा० ६ । २ । ३

उत्तर—यदि प्रकृति का सतगुण जो प्रकाशशील है ज्ञान के अनुकूल कर्म करे, तो उसका तमोगुण ज्ञान को बिलकुल नाश कर दे। इस कारण प्रकृति से ज्ञानपूर्वक क्रिया होना असम्भव है; क्योंकि वह सत्, रज और तम तीन गुणवाली है और इन गुणों की साम्यावस्था है अर्थात् एक दूसरे को नाश करने के योग्य नहीं। सत्त्व गुण प्रकाशशील है। प्रकाशक साक्षी अर्थात् प्रकाश को देखनेवाला नहीं होता। जैसे दीपक प्रकाश दिखलानेवाला है, स्वयम् देखने वाला साक्षी नहीं। इस कारण प्रकृति ज्ञान के अनुकूल कर्म नहीं कर सकती, अतः सर्वज्ञ ब्रह्म ही ज्ञानपूर्वक कर्म कर सकता है न कि प्रकृति।

प्रश्न—ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि उसका ज्ञान स्वाभाविक है और कार्य्य नित्य उत्पन्न होता है। इस कारण यदि उनका ज्ञान ब्रह्म को हो, तो वह स्वाभाविक ज्ञान (Instinct; Innate knowledge) नहीं रहेगा, किन्तु नैमित्तिकज्ञान (Acquired knowledge; इल्मेहुसूली) हो सकता है।

उत्तर—यदि वस्तु पहिले बने और ज्ञान पीछे हो, तो वह ज्ञान नैमित्तक हो सकता है, परन्तु जब पदार्थ ब्रह्म के ज्ञानपूर्वक क्रिया से बनते हैं, तो बनने से पूर्व ब्रह्म को ज्ञान है। इस दशा में नैमित्तिक ज्ञान की तरह नहीं हो सकता; स्वाभाविक ज्ञान ही कहा जायेगा।

प्रश्न—ब्रह्म में क्रिया नहीं हो सकती; क्योंकि वह सर्वव्यापक है। इस कारण जब उसमें क्रिया न हो, तो जगत् रचने में जो क्रिया करनी पड़ती है, उसको नहीं कर सकता है; इस वास्ते प्रकाश में क्रिया माननी चाहिये।

उत्तर—निश्चय ब्रह्म गति से रहित है, परन्तु वह प्रकृति को

गति देकर जगत् बनाता है अथवा यह गति उसका स्वाभाविक धर्म है ; इस कारण उसको क्रिया स्वाभाविक कहाती है।

प्रश्न—ऐसा मानना उचित नहीं ; क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं कि जो गुण उसमें न हो वह दूसरे को दे सके। जिसके पास धन नहीं वह दूसरे को किस प्रकार धन दे सकता है, जिसमें क्रिया नहीं, वह दूसरे को किस प्रकार क्रिया दे सकता है ; इससे असत् से सत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

उत्तर—परमात्मा ने जो कुछ वेदों में लिखा है सबका उदाहरण विद्यमान है। यथा—चुम्बक पत्थर स्वयम् गति नहीं कर सकता, किन्तु लोहे को गति देकर अपनी ओर खींच लेता है ; इसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म अपनी शक्ति से जड़ प्रकृति को गति देकर जगत् को बनाता है ; सो यह बनाना ब्रह्म का कर्म है प्रकृति का नहीं।

प्रश्न—वह कौनसा कर्म वा वस्तु है, जो सृष्टि से पूर्व ब्रह्म के ज्ञान का विषय होता ; क्योंकि यदि जानने के योग्य कोई वस्तु न हो, तो ज्ञान किसका होगा ?

उत्तर—संसार में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, किन्तु सब वस्तुएँ प्रवाह (सिलसिले) से अनादि हैं। प्रकृति के अन्दर सब प्रकार का कर्म उपस्थित है। कर्म पाँच प्रकार के हैं—अवक्षेपण, उत्क्षेपण, संकोचन, प्रसारण और गमन अर्थात् नीचे गिरना, उछलना, सुकड़ना, फैलना, चलना। इन पाँचों भूतों के अन्दर परमात्मा की शक्ति रहती है—अग्नि के अन्दर उछलना, जल के अन्दर गिरना, पृथ्वी के अन्दर सिकुड़ना, आकाश के अन्दर फैलने का आधार होना अथवा वायु के अन्दर चलना, जीव के अन्दर इच्छापूर्वक क्रिया अर्थात् करने न करने और विरुद्ध करने की शक्ति होना। अतः इन कर्मों के नित्य होने से

ईश्वर का ज्ञान एकसा और नित्य बना रहता है; उसके ज्ञान और कर्म में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रश्न—यदि ईश्वर का ज्ञान नित्य बना रहता है, तो श्रुति ने क्यों कहा कि उसने ज्ञानपूर्वक कर्म किया; जिससे उसका कर्म और ज्ञान अनित्य सिद्ध होता है।

उत्तर—यह शब्द उपनिषद्कार ऋषि इस बात को जतलाने के कारण कहते हैं कि सृष्टि अचानक नहीं बन जाती; किन्तु बनानेवाला उसको ज्ञान के अनुकूल बनाता है। इसी कारण वेद ने स्पष्ट शब्दों में बतला दिया है कि प्रति सृष्टि के मनुष्य जब पढ़ें, तब उनको वेद से ज्ञात हो जावे कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्रादि परमात्मा ने पूर्व रचे थे, ऐसे ही अब उत्पन्न किये हैं; अतः स्वरूप से सृष्टि का आदि और अन्त है; परन्तु प्रवाह से सृष्टि अनादि है।

प्रश्न—वस्तुयें नित्य नवीन-नवीन उत्पन्न होती हैं। ब्रह्म में (इल्महुसूली) नैमित्तिक ज्ञान की शक्ति नहीं इस कारण वह सर्वज्ञ नहीं कहला सकता।

उत्तर—हम पहिले बतला चुके हैं कि जाति (नवय्यत) के नित्य होने से कोई वस्तु नवीन नहीं होती, किन्तु प्रत्येक कार्य (मालूल) के अन्दर तीन वस्तुएँ होती हैं—जाति (नवय्यत) दूसरी आकृति (शक्ल) तीसरी व्यक्ति। वह वस्तु जिसमें जाति और आकृति रहती है, उनमें से जाति तो नित्य है और आकृति बनानेवाले के ज्ञान में रहती है और व्यक्ति उपादान कारण में वास करती है; इस कारण तीनों वस्तुओं के नित्य होने से कोई वस्तु आविष्कार नहीं होती; किन्तु अविष्कर्ता (मूजिद) इन तीनों वस्तुओं के मिलानेवाले को कहते हैं।

प्रश्न—हम तो रात-दिन आकार (आकृति) और रूप को बनता हुआ देखते हैं। प्रत्यक्ष बात किस प्रकार अशुद्ध हो सकती है और आविष्कार तो नित्य नवीन होते हैं।

उत्तर—जिस प्रकार गृह बनने से पूर्व उसका चित्र बनता है, वह चित्र चित्रकार के मस्तिष्क में होता है, जिसका आविष्कार मकान बनानेवाले शिल्पकार करते हैं। यदि गृह बनने से प्रथम चित्र न होता, तो किस प्रकार प्रकट होता।

प्रश्न—यदि मकान से पूर्व चित्र होता है, तो भी किसी गृह को देखकर बनाया जाता है। इसी प्रकार मकान से पहिले चित्र और चित्र से पूर्व गृह होने से प्रवाह अवश्य आयेगा जो दोष है।

उत्तर—यह ही चक्र तो प्रवाह से अनादि कहलाता है। यह दोष नहीं, किन्तु सत्य है; क्योंकि ईश्वर के स्वाभाविक कर्त्ता होने से उसके सृष्टि उत्पन्न करने के नियम (क़ायदा) नित्य हैं; जिससे सृष्टि लगातार ढंग पर बनती है। इस कारण ब्रह्म सर्वज्ञ ही जगत्कर्ता है।

प्रश्न—क्या जिन उपनिषदों ने प्रकृति के कार्य अग्नि और जलादि में ज्ञानपूर्वक क्रिया मानी है, वह गौण हैं?

उत्तर—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

पदार्थ—(गौणः) अप्रधान (इस्तलाही) कथनमात्र (चेत्) यदि हो (न) नहीं (आत्मशब्दात्) उपनिषद् का तात्पर्य आत्मा से होने से।

अर्थ—यदि कहा जावे कि जिस प्रकार उपनिषदों में लिखते हैं कि तेज (अग्नि) ने ज्ञानपूर्वक कर्म किया और जल ने

ज्ञान के अनुकूल क्रिया की और अन्न ने ज्ञानपूर्वक क्रिया की इस प्रकार क्रिया करती है। क्रिया स्वीकार की जा सकती, तो महर्षि व्यासजी कहते हैं कि ऐसा मानना उचित नहीं; क्योंकि प्रवाह इस ज्ञानपूर्वक करना वा सत् से आरम्भ है, जो आत्मा का नाम है और जिसको पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। यथा—इंजन की क्रिया से प्रेरित होकर यदि कोई गाड़ी दूसरी गाड़ी को गति दे, तो वह गति उस गाड़ी का धर्म न होगा; किंतु वह क्रिया इंजन के कारण होगी। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म की शक्ति से सौर जगत् और सब वस्तुयें कर्म कर रही हैं; परंतु यह कर्म उनका निजी गुण नहीं है; किंतु जिसने उनको चलाया है यह शक्ति उसको है। उदाहरण—एक घड़ीसाज़ ने एक घड़ी बनाई, जो चाबी देने से एक सप्ताह तक चलती है। चलानेवाला चाबी देकर पृथक् हो गया। अब मूर्ख मनुष्य उस अचेतन घड़ी को चलाता हुआ देखकर विचार कर लेता है कि घड़ी स्वयम् चलती है; परन्तु विद्वान् जानता है कि अचेतन (non-sentiate, ग़ैरसुदरिका) में शक्ति नहीं होती, इस कारण अपनी शक्ति से नहीं चलती, किंतु उसको किसी चेतन (sentiate) चलानेवाले से गति दी हुई है।

प्रश्न—मानसिक शक्ति किसे कहते हैं और वह किस प्रकार ज्ञात की जाती है?

उत्तर—जिसमें तीन प्रकार की क्रिया अर्थात् फानान करना उलटा करना पाया जावे और जिसमें कोई नियम स्थिर न हो वह शक्ति मानसिक होती है। बहुधा अल्पज्ञ जीव ऐसी क्रिया के कर्त्ता होते हैं। वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात हो जाती है।

प्रश्न—प्रबन्ध-शक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर—एक प्रकार की क्रियां जो नियमित अर्थात् नियम से

बँधी हुई हो, जिस नियम के अन्दर न्यूनता अधिकता न हो सके, वह शक्ति प्रबन्धीय शक्ति कहलाती है और परमात्मा और उसके ज्ञान को प्राप्त करनेवाले मनुष्यों के कारण होती है। ब्रह्माण्ड में प्रबन्धीय गति परमात्मा के कारण है और घड़ी आदि बहुत यंत्रों के अंदर विद्वान मनुष्यों के कारण प्रबंधीय क्रिया है।

प्रश्न—यदि प्रकृति के कारण आत्मा शब्द का प्रयोग किया जावे जैसा कि मन आदि के कारण आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है, तो क्या दोष होगा।

उत्तर—यदि प्रकृति के कारण आत्मा शब्द का प्रयोग किया जावे, तो वह किसमें व्यापक* होगी; क्योंकि परमात्मा के संसार में व्यापक होने से, जीव के शरीर में व्यापक होने से आत्मा कहा जाता है। प्रकृति को किसमें व्यापक होने के कारण आत्मा कहा जावे। यदि बिना किसी व्याप्य के व्यापक कहा जावे तो वह व्यर्थ है।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि परमात्मा में प्रकृति व्यापक है और प्रकृति में परमात्मा व्यापक है; इस कारण दोनों को आत्मा कह सकते हैं।

उत्तर—यह विचार सत्य नहीं; क्योंकि स्थूल वस्तु में सूक्ष्म वस्तु व्यापक हो सकती है। जब प्रकृति में परमात्मा को व्यापक मानेंगे, तब परमात्मा को प्रकृति से सूक्ष्म मानना पड़ेगा। जब प्रकृति को परमात्मा में व्यापक जानेंगे, तो प्रकृति परमात्मा से सूक्ष्म (लतीफ़) माननी पड़ेगी। एक ही वस्तु में दो स्थूल और सूक्ष्म धर्म एक ही की अपेक्षा मान नहीं सकते—यह सिद्धांत सत्य नहीं।

---

* आत्मा का अर्थ व्यापक यह पहिले सिद्ध कर चुके हैं।

प्रश्न—प्रकृति को सज्ञान वा आत्मा मानने में और तो कोई भी हानि नहीं है ?

उत्तर—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

पदार्थ—(तन्निष्ठस्य) इसमें चित्त के स्थिर होने से है (मोक्षोपदेशात्) मोक्ष का उपदेश होने से।

भावार्थ—सब शास्त्रकार और वेद इस बात का उपदेश करते हैं कि जिसको परमात्मा का साक्षात् ज्ञान होता है, उसकी मुक्ति होती है* और जो प्रकृति की उपासना करता है, वह महान्धकार-वाली × योनियों को प्राप्त होता है।

यदि प्रकृति को आत्मा मान लिया जाय, तो वेद के विरुद्ध होने के अतिरिक्त व्यवस्था भी उचित नहीं होगी ; क्योंकि बन्धन के कारण मुक्ति होना असम्भव है और यह भी बतलाया है कि जो आत्मा को जानते हैं, वे दुःखों से तर जाते हैं। प्रकृति को आत्मा कहने से और उसके जानने से दुःखों से तर जाना चाहिए ; यह हो नहीं सकता।

प्रश्न—क्या यह आवश्यक है कि जिससे वेद मोक्ष बतलाये, उससे मोक्ष हो हो जावे और प्रकृति से बन्धन हो। यदि बन्धन मोक्ष दोनों प्रकृति से स्वीकार किये जावें जैसा कि हम संसार में देखते हैं कि वही वस्तु नियमपूर्वक ग्रहण करने से सुख का

---

* तमेव विदित्वाति मृत्युमेति।

यजुर्वेद ३१ । १८

× अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते।

यजुर्वेद अ० ४ मं० १

कारण हो जाती है और अनियमता से दुःख का कारण होती है ; ऐसे ही प्रकृति के सत्य ज्ञान से मोक्ष अथवा मिथ्या ज्ञान से बंधन हो सकता है।

उत्तर—प्रकृति परतन्त्र* है। वह जीव को बाँध नहीं सकती। महर्षि कपिल जी सांख्य दर्शन में लिखते हैं कि प्रकृति ज्ञान-रहित होने से जीवों को सत्य ज्ञान देकर मोक्ष भी नहीं दे सकती ; इस कारण वन्धन का कारण मिथ्या ज्ञान है ; जो अल्पज्ञ और अज्ञानी के संयोग से होता है और मोक्ष का कारण तत्त्व ज्ञान है, जो अल्पज्ञ और सर्वज्ञ के संयोग से होता है। इस कारण मोक्ष ज्ञान-रहित प्रकृति से किसी दशा में नहीं हो सकता और इस कारण प्रकृति को आत्मा किसी अवस्था में भी नहीं कह सकते।

प्रश्न—क्या आत्मा और परमात्मा के भेद-ज्ञान विना कभी मोक्ष हो सकता है ; क्योंकि जब तक भेद है तब तक दूरी है ; जब तक दूरी है तब तक साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता और जब तक साक्षात् ज्ञान न हो तब तक मोक्ष कैसे हो सकता है ?

उत्तर—भेद अर्थात् दूरी तीन प्रकार की होती है—जीवात्मा और परमात्मा में नित्य होने से काल की दूरी, परमात्मा के सर्वव्यापक होने से देश की दूरी और परमात्मा के सर्वज्ञ होने से ज्ञान की दूरी। जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा मेरी आत्मा है अर्थात् मुझमें व्यापक है, तब दूरी दूर हो जाती है, परन्तु यह जानना कि मैं ही परमात्मा हूँ शास्त्रों और वेदों के विरुद्ध है, जिसको आगे दिखलायेंगे।

प्रश्न—जिस प्रकार स्वामी अपने दास और पिता अपने पुत्र

* प्रकृति निबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्।

सां० १। १८

को आत्मा शब्द से पुकारता है, ऐसे ही यदि प्रकृति को आत्मा शब्द पुकारकर कहा हो कि जो आत्मा को जानता है, वह दुःखों से छूट जाता है अर्थात् जो प्रकृति को जानता है वह दुःखों से छूट जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के जानने न जानने का प्रभाव एक सा होता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष नहीं। इस कारण हम इनसे कोई कार्य्य नहीं ले सकते, जिससे उलटा-सीधा फल हो सके; परन्तु प्रकृति के सत्य भोग से सुख और असत्य भोग से दुःख प्रत्यक्ष होता है। इस कारण निश्चय यह ही होता है कि आत्मा शब्द प्रकृति के कारण कहा गया है।

उत्तर—सुख-दुःख का कारण अहंकार है। जिस वस्तु में अहंकार होता है, उसके बिगड़ने-बनने से दुःख-सुख होता है। उदाहरण—किसी का स्थान यदि वह अथवा जल जाये, तो घर के स्वामी को घोर कष्ट होता है; परन्तु यदि घर बेचने के कुछ काल उपरान्त वही घर जल जावे, तो स्वामी को कोई कष्ट नहीं; जिससे स्पष्ट है कि बेचने से न तो स्थान ही और हो गया और न स्वामी ही; फिर क्या कारण है कि बेचने से पूर्व घर के जलने ने कष्ट दिया और बेचने के उपरान्त लेशमात्र भी दुःख नहीं रहा। कारण स्पष्ट है कि बेचने के पूर्व इसमें अहंकार था और बेचने के बाद उसका अहंकार नहीं रहा। क्या कारण है कि नित्य प्रति सहस्रों मनुष्य मरते हैं; हमें कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता; परन्तु जिस दिन कोई हमारा संबन्धी मर जाता है उस दिन हमें घोर विपत्ति होती है और धाड़ मार-मार कर विलाप करते हैं; इस कारण जब आत्मा का ज्ञान होगा, तो सांसारिक कोई वस्तु ऐसी नहीं होगी कि जिसमें अहंकार हो सके; क्योंकि सांसारिक सब वस्तुयें प्रकृति के कार्य्य हैं—इनमें अहंकार से तो दुःख होता है, क्योंकि प्रकृति दुःखस्वरूप है; परन्तु

आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता ; क्योंकि वह प्रकृति में है ही नहीं।

प्रश्न—प्रकृति दुःखस्वरूप है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—दुःख नाम परतन्त्रता अर्थात् आज़ादी के न होने के कारण है। परमात्मा स्वतन्त्र है, जीव करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है। परमात्मा के संग से जीव की स्वतन्त्रता बढ़ती है और प्रकृति के संग से परतन्त्रता बढ़ती है ; अतः परतन्त्रता दुःख है। इस कारण परतन्त्र प्रकृति दुःखस्वरूप है। जो उसकी उपासना करता है, वह ही दुःख भोगता है ; जिसको प्रत्येक जीव नित्यप्रति अनुभव करता है।

प्रश्न—हम तो कभी प्रकृति से सुख अनुभव करते हैं, कभी दुःख। ऐसा हमने नहीं देखा कि दुःख ही दुःख अनुभव किया जावे।

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति से बनी हुई वस्तुओं का ही अनुभव करानेवाली हैं ; इस कारण जब जागते रहते हैं तब इन्द्रियों से काम लेते हैं जिससे प्रकृति की ही उपासना होती है। उस समय सिवाय दुःख के और कुछ अनुभव नहीं होता। ईर्षा-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, रोग, क्षुधा-प्यास सब जागने ही में अनुभव होते हैं। निद्रा की अवस्था में जब प्रकृति का सम्बन्ध करानेवाली इन्द्रियाँ कर्म नहीं करतीं कोई दुःख प्रतीत नहीं होता उसका प्रमाण सूत्रकार देते हैं।

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

पदार्थ—(हेयत्व) त्यागने योग्य (अवचनात्) न कथन करने से (च) पक्ष के विरुद्ध दिखलाने के कारण है।

भावार्थ—यदि प्रकृति में उपचार से सत् शब्द कहा जाता है जैसे कि किसी समय नवीन चन्द्रमा चढ़ता है अथवा दीखता न्यून है, तो प्रथम किसी मोटी वस्तु को दिखलाते हैं, जो उस ओर हो। जब वह देख ली जाती है तब कहते हैं उसके पश्चिम ओर चन्द्रमा है। प्रथम वस्तु चन्द्रमा के दिखलाने के कारण बतलाई गई थी। यदि इसी प्रकार परमात्मा को जो अति सूक्ष्म है सत् सिद्ध करने से प्रथम प्रकृति को सत् बतलाया हो, तो उचित नहीं; क्योंकि उस दशा में उस पहिली का त्याग करना होता है। यहाँ प्रकृति को असत् कहीं नहीं बतलाया इस कारण उपनिषद् में सत् शब्द सीधा आत्मा के लिये है प्रकृति के लिये नहीं।

प्रश्न—उपनिषद् * में बतलाया है कि केवल पृथ्वी को जानने से बने हुए सब पदार्थ ज्ञात होते हैं; इन बनी हुई वस्तुओं का नाम, रूप तो विकार होने से कल्पना किया जाता है अथवा वास्तव में पृथ्वी एक वस्तु है। इस दृष्टांत से ज्ञात होता है कि उपादान कारण के जानने से ही सब कार्य्यों का ज्ञान होता है और जगत् का उपादान कारण प्रकृति है इसलिये सत् शब्द से उपनिषत्कार का प्रयोजन उपादान कारण प्रकृति ही हो सकता है। जितने भी और दृष्टांत हैं, उपादान कारण से ज्ञात होते हैं।

उत्तर—उपादान कारण से कार्य्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है, उसको बतलाने की आवश्यकता ही नहीं होती; परन्तु कर्ता का ज्ञान व अनुमान शब्द प्रमाण से होता है, जिसको स्वयम् कोई जान नहीं सकता। निदान शब्द प्रमाण से जिस कारण को

---

* यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातद्वा।
वाचारम्भणंविकारो नामधे मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥
छा० उ० अ० ६ ख० १ मं० ४।

उपनिषदों ने बतलाया है वह ब्रह्म ही है ; क्योंकि वह जगत्कर्ता है। उस बिना उपादान कारण से न तो स्वयम् वस्तु बन सकती है; जैसे मिट्टी के बिना कुम्हार घड़े, लोटे और कुण्डे नहीं बना सकते। घड़े, लोटे, कूड़े अपने कारण पृथ्वी का प्रत्यक्ष से स्वयम् वर्णन करते हैं, परन्तु निमित्त कारण कुम्हार के बतलाने की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार उपादान कारण पृथ्वी तो उन वस्तुओं से प्रथम थी, इनके बनकर टूटने पर भी रहेगी। वह तीन काल में रहने से सत्य है। ऐसे ब्रह्म भी सत्य है, क्योंकि उपादान कारण तो स्वयम् बना नहीं सकता ; जिसकी सिद्धि हम पीछे कर आये हैं। इस कारण प्रकृति के लिये आत्मा और सत् शब्द नहीं कहे गये ; क्योंकि उसके लिये कहे जाते, तो उसको त्यागने का वर्णन होता ; क्योंकि प्रकृति परतन्त्र होने से त्यागने योग्य जो यह दुःख है उसका कारण है। आत्मा सुखस्वरूप होने से त्यागने के योग्य नहीं ; अतः प्रकृति त्यागने योग्य और उपनिषत्कार ने वहाँ सत् शब्द के साथ त्यागने योग्य होने का वर्णन नहीं किया ; इसलिए आत्मा ही लेना उचित है ; आगे और युक्ति देते हैं।

स्वाप्ययात ॥९॥

पदार्थ—(स्व) अपने में (आप्ययात्) बाहर के विषयों से पृथक होकर आनन्द लेने से।

भावार्थ—जिस समय मनुष्य सोता है ; उस समय अपने भीतर ही से आनन्द को प्राप्त करता है ; बाहर के विषय उस समय इन्द्रियों से सम्बन्ध न होने के कारण उपस्थित नहीं होते, जिसमे जीवात्मा का जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशा में सम्बन्ध होता है। वह सत् केवल ब्रह्म ही है ; क्योंकि

जीव के भीतर स्थूल होने से प्रकृति व्याप्त नहीं हो सकती; इसलिये प्रकृति के साथ जीव का सम्बन्ध दो अवस्थाओं में रहता है— एक जाग्रत में, दूसरे स्वप्न में। इन दशाओं में जीव कभी सुखी होता है कभी दुःखी; परन्तु आनन्द से शून्य होता है। केवल सुषुप्ति की दशा में जीव आनन्द को भोगता है। वास्तव में जाग्रत और स्वप्न में भी जीव को विषयों में आनन्द ज्ञात होता है। वह वास्तव में इसी आनन्द के कारण होता है; इसलिये ब्रह्म का आनन्द तो तीनों अवस्थाओं में रहने से सत् कहाता है और प्रकृति का प्रभाव दो दशाओं के रहने से सत् नहीं कहला सकता। इस कारण सत् के जानने से सब जानने का प्रयोजन सिद्ध होता है। वह केवल ब्रह्म ही है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म सबसे सूक्ष्म और अन्तिम जानने के योग्य वस्तु है; इसलिये ब्रह्म के जानने से प्रथम ही सब वस्तुओं का अर्थात् जीव और प्रकृति का ज्ञान हो जाता है। इस कारण यह पक्ष कि जिसके जानने से सब जाने जाते हैं, वह जानने योग्य वस्तु जिसको उपनिषदों ने सत् कहा है केवल ब्रह्म है; जिसका प्रभाव समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीन दशाओं में स्पष्ट अनुभव होता है और अवस्थाओं में प्रकृति के संग सम्बन्ध होने से स्पष्ट नहीं ज्ञात होता है।

प्रश्न—सुख और आनन्द में कुछ भेद है वा सुख और आनन्द दोनों एक हैं?

उत्तर—सुख वह होता है जब प्रकृत मन किसी विषय के साथ सम्बन्ध पैदा करके कुछ समय के लिये स्थिर होता है और मन के मलीन और स्थिर होने से उसके अन्दर से ब्रह्मानन्द की मध्यम सी झलक होती है; जिस प्रकार मलीन चिमनी के अन्दर से प्रकाश की झलक दृष्टि आती है। आनन्द वह है जब

मन के शुद्ध होने से या मन के न होने से जीवात्मा ब्रह्म से साक्षात् आनन्द गुण को ग्रहण करता है। इस कारण सुख और आनन्द दोनों पृथक हैं। सुख अनित्य है और आनन्द नित्य है।

प्रश्न—जब समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में ब्रह्म का आनन्द प्राप्त होता है, तो इन तीनों में भेद क्या है?

उत्तर—जब शरीर सहित और ज्ञान सहित जीव को ब्रह्म का आनन्द मिलता है, तो उस दशा का नाम समाधि है और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव को ब्रह्म का आनन्द मिलता है उस दशा का नाम सुषुप्ति है और जब ज्ञान सहित और शरीर रहित जीव को ब्रह्म का ज्ञान मिलता है उस दशा का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—जीव चेतन है, तीनों दशाओं में वह आनन्द को ज्ञान से ही जान सकता है, परन्तु सुषुप्ति में ज्ञान रहित तुमने बतलाया है, इस कारण उस समय आनन्द नहीं हो सकता। जब आनन्द प्राप्त नहीं हुआ, तो पहिले का पक्ष सत्य नहीं।

उत्तर—गुणों का ज्ञान दो अवस्थाओं में होता है—एक उस समय जब गुण और गुणी दोनों ज्ञात हों अर्थात् हमारे सामने कस्तूरी रक्खी हुई हो; उस समय चक्षु से हम कस्तूरी का नाफ़ा देखते हैं और नासिका से उसकी सुगन्धि का अनुभव करते हैं; परन्तु जब वही कस्तूरी मृग की नाभि में होती है, तो उसको सुगन्धि गोचर होती है; परन्तु सुगन्धित वस्तु ज्ञात नहीं होती; इस कारण वह चारों ओर खोज में भटकता है। तात्पर्य यह कि कस्तूरी उसके अन्दर है, अतः सुषुप्ति दशा में आनन्द का ज्ञान तो होता है; परन्तु आनन्द के कारण ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और समाधि और मुक्ति में दोनों का ज्ञान होता है। यही

कारण है कि मनुष्य नित्यप्रति सोने की दशा में ब्रह्म का आनन्द लेते हुए भी उसकी सत्ता से अनभिज्ञ होते हैं; उनको जितना प्रेम संसार की तुच्छ वस्तुओं में है, वह ब्रह्म में नहीं होता।

प्रश्न—जहाँ योगदर्शनकार ने लिखा है कि जब ज्ञान का अभाव अर्थात् शून्यता होती है, मन की उस वृत्ति को निद्रा † कहते हैं।

उत्तर—यहाँ योगकार का प्रयोजन बाहर के ज्ञान से वंचित होना है। उसका अर्थ यह नहीं कि आनन्द का ज्ञान भी नहीं रहता; क्योंकि चेतन जीवात्मा में ज्ञान का अभाव किसी अवस्था में नहीं होता। बाहरी ज्ञान की प्राप्ति तो वह इन्द्रियों के द्वारा करता है और स्वज्ञान अर्थात् भीतरी ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है। महर्षि पातञ्जलि का आशय है कि जिस अवस्था में ज्ञान प्राप्त न हो उसका नाम निद्रा है।

प्रश्न—स्वयम् जब सोकर उठते हैं, तो बहुधा कहते हैं कि आज मैं सुख से सोया, मुझे कुछ खबर नहीं रही, निदान अज्ञानता को स्वीकार करते हैं।

उत्तर—वह शब्द भी प्रकट करते हैं कि बाहर की अज्ञानता और भीतरी सुख का ज्ञान था, क्योंकि बिना सुख को ज्ञात किये ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं कि सुख से सोया। इस कारण पतञ्जलि का यह कथन है कि ज्ञान की शून्यता होती है, यह भी उचित है; क्योंकि बाहर के ज्ञान की शून्यता होती है अथवा उपनिषद् का यह कथन कि आनन्द होता है यह भी उचित है।

प्रश्न—सुख का ज्ञान निद्रा की अवस्था में नहीं होता, किन्तु

† अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा १।१०।

जाग्रत अवस्था में कहता है कि आज बेखबरी से सोया ; इस कारण वह सोना सुख से सोना था।

उत्तर—निद्रा की अवस्था में सुख था। उस समय तो उसका ज्ञान नहीं हुआ ; परन्तु जाग्रत की अवस्था में सुख नहीं था ; पुनः सुख का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। यदि कोई मनुष्य खाते समय तो स्वाद अनुभव न करे और भोजन के घंटों पश्चात् अनुभव करे, तो उसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ; क्योंकि रस अनुभव करनेवाली एक रसना इन्द्रिय है और इन्द्रिय अर्थ के सम्बन्ध से ही अनुभव होता है, असम्बन्ध अनुभव हो ही नहीं सकता। इस कारण सुख का ज्ञान तो निद्रा की उसी दशा में होता है। दूसरे को जागने की दशा में कहती है, इसलिये आनन्द आत्मा ही से होता है। श्रुति ने जो सत् शब्द कहा है वह आत्मा के लिये कहा है। यह प्रत्येक मनुष्य को ध्यान देना उचित है कि सांख्य दर्शन उपादान कारण (इल्लतेमादी) की व्याख्या करता है और वेदान्त निमित्त कारण की ; इस कारण दोनों में विरोध नहीं। जो युक्तियाँ दूसरे शास्त्र को खण्डन करती हुई विदित होती हैं, वह केवल विषय के पृथक् होने के कारण हैं। उस पर युक्ति देते हैं।

गति सामान्यात् ॥१०॥

पदार्थ—(गति) ज्ञान और गमन (सामान्यात्) एक सी होने से।

भावार्थ—क्योंकि वेदान्त के सब ग्रन्थों में निमित्त कारण की चर्चा है ; इसलिये सर्वदा सब जगह आत्मा ही को कारण बताया। यदि वेदान्त शास्त्र अन्य कारणों का निरूपण करता, तो प्रकृत्यादि

को कारण स्वीकार करता। जिस प्रकार उपनिषदों × में लिखा है कि आत्मा ही से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी आदि, तो यहाँ यह प्रयोजन नहीं कि आकाश और वायु आदि को उपादान कारण ब्रह्म है किन्तु निमित्त कारण ब्रह्म है।

प्रश्न—सब विद्वान् तो सब प्रकार का कारण ब्रह्म ही को मानते हैं, तुम केवल निमित्त कारण मानते हो। इसका क्या प्रमाण है कि तुम्हारा कथन उचित है?

उत्तर—प्रत्येक आचार्य्य को उपादान कारण ब्रह्म के होने पर जो शंकायें उत्पन्न होती हैं, उनके उत्तर के लिये माया का आसरा लेना पड़ता है और माया प्रकृति का नाम है। इस कारण उपादान कारण माया और निमित्त कारण ब्रह्म है। यदि वेदान्त के आचार्य्य उपादानकारण (माया) के लिये ग्रहण न करके किसी प्रकार ब्रह्म से जगत् बना देते तो हम उसको स्वीकार करने के लिये उद्यत होते; परन्तु वास्तव में अधिकवाद (Theories) बनाने पर भी वेदान्तियों की शंकाओं का उत्तर देने के लिये केवल ब्रह्म के अतिरिक्त छै पदार्थ मानने पड़े, जिससे स्पष्ट प्रगट हो गया कि छै शास्त्र मिलाकर ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है और प्रत्येक शास्त्र एक एक कारण (इल्लत) का वर्णन करता है।

प्रश्न—आकाश को दूसरे शास्त्रों ने नित्य माना है। वेदान्त ने उसकी उत्पत्ति किस प्रकार बतला दी?

उत्तर—आकाश के दो लक्षण किये हैं—एक तो अवकाश

× तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायो-रग्निरापः अद्भिः पृथिवी।

तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक् १।

स्थान (खाली जगह) दूसरा जिसमें निर्गमन और प्रवेश हो सकने का कार्य हो सके, जबतक कि प्रकृति में स्थूलपन नहीं होता, तो निकलना अथवा प्रवेश होना किस प्रकार सम्भव है अथवा जब तक आकाश में गैस की भाँति भरा हुआ माद्दा ठोस दशा में न जाने लगे तबतक आकाश कहाँ हो सकता है। इस कारण यह दोनों वाक्य प्रकृति में ठोसपन होने से प्रगट हो सकते हैं; अतः जबतक प्रकृति में अतिक्रम न हो तबतक आकाश कहला ही नहीं सकता और प्रकृति में गति बिना आत्मा के हो नहीं सकती। इसलिए सबकी उत्पत्ति का कारण आत्मा है; जिसकी क्रिया से संयोग और वियोग होकर सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय आदि होते हैं। इस कारण जगत का आदि मूल ब्रह्म को मानना उचित है। इस पर और युक्ति देते हैं।

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

पदार्थ—(श्रुतत्वात्) श्रुतियों से सुना होने से (च) भी।

भावार्थ—जितनी श्रुतियाँ* जगत्कर्ता का विचार करती हैं सब की सब ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता बतलाती हैं। कोई श्रुति प्रकृति को जगत् का कर्त्ता नहीं बतलाती। जैसे—वेद ने बतलाया जो कुछ जगत् में विद्यमान होता है, वह सब पुरुष ही के कारण से होगा। यद्यपि प्रकृति उपादान कारण है; परन्तु वह स्वयम् परतन्त्र होने से कुछ बना नहीं सकती; इस कारण संसार के जितने

* विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता द्यावाभूमी जनयन् देवएकः। यजु०। स इमांल्लोकानसृजत सविश्वमसृजत बृ० ग्रा ४० मं १२।

पदार्थ हैं वह चेतन पुरुष के कारण बनते हैं। सब सृष्टि तो परमात्मा के कारण बनती है और उसमें जो कुछ भिन्न भिन्न वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं वह जीवात्मा के कर्मों के कारण हैं। प्रकृति के उस कर्म को ग्रहण करने वाली है और प्रकृति के कार्य मन आदि शक्ति के औजार हैं। सबकी क्रिया का कारण केवल पुरुष अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा है। इस कारण दूसरे सूत्र में तो ब्रह्म के सत् लक्षण को सिद्ध किया और तीसरे सूत्र से लेकर ११ तक ९ सूत्रों में विवाद किया कि वह ब्रह्म जो जगत् का कर्त्ता है वह जड़ प्रकृति व उसका कोई कार्य नहीं। अब सत् चित् ब्रह्म को सिद्ध करके आनन्द सिद्ध करने के कारण नीचे का सूत्र लिखते हैं।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

पदार्थ—(आनन्दमयः) यह आनन्दस्वरूप है (अभ्यासात्) क्योंकि सब श्रुतियाँ उसको आनंद-स्वरूप* बतलाती हैं।

भावार्थ—क्योंकि सब श्रुतियाँ ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप बताती हैं इस कारण ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है; यहाँ तक कि ११ सूत्रों से ब्रह्म सच्चिदानन्द सिद्ध किया है।

प्रश्न—तैत्तिरीयोपनिषद् में पाँच कोष लिखे हैं—अन्नमय,

---

* आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्र० वल्ली २ अनु० ४
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तै० भृगु व० अनुवाक् ६
एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तै० ब्र० व० अनु० ८
आनन्दरूपममृतंयद्विभाति मु० उ० खं

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। क्या पाँचवा कोष जो आनन्दमय कहाता है ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरा चेतन है।

उत्तर—तैत्तिरीयोपनिषद् में उस आनन्दमय कोष का शरीर आदि बतलाया है और ब्रह्म के सबसे बड़ा होने से उसका शरीर हो नहीं सकता; क्योंकि ब्रह्म शरीर ब्रह्म से बड़ा होगा, जिसमें ब्रह्म रहे। ब्रह्म से बड़ा कोई नहीं, जो ब्रह्म का शरीर कहला सके; इसलिये यहाँ आनन्दमय कोष से जीवात्मा ही का ग्रहण करना उचित है।

प्रश्न—यदि माया को ब्रह्म का शरीर मान लें, तो क्या हानि होगी?

उत्तर—जिसके शरीर होता है वह सुख-दुःख के भोग और इन्द्रियों से रहित नहीं हो सकता; क्योंकि शरीर पर भोग का स्थान होता है जिसमें भोग के साधन इन्द्रियाँ कर्म करती हैं; जिससे आत्मा को सुखी-दुखी होने का ज्ञान उत्पन्न होता है। ब्रह्म भोक्ता नहीं इसलिये वह शरीर से रहित है; अतः यहाँ तो आनन्दमय से अर्थ जीवात्मा का है; परन्तु और स्थानों में ब्रह्म का सङ्ग आनन्द का सम्बन्ध होने से ब्रह्म सच्चिदानन्द ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—ब्रह्म को आनन्दमय कहने से विकारवाला हो जावेगा, क्योंकि "मय" शब्द विकार के अर्थ में आता है।

उत्तर—

विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात् ॥ १३ ॥

पदार्थ—(विकार शब्दात्) मय शब्द के अर्थ विकार के हैं (इति चेत्) यदि ऐसा नहीं, (न) नहीं (प्राचुर्य्यात्) अधिक भी है।

भावार्थ—ब्रह्म आनन्दमय है। यद्यपि मय शब्द के अर्थ विकार के भी हों; परन्तु आनन्दमय कहने से ब्रह्म विकारवाला नहीं हो सकता; क्योंकि विकार छे हैं, जो ब्रह्म में नहीं घट सकते। इस कारण मय शब्द का अर्थ प्राचुर्य्य अर्थात् अधिकता है। इसलिये आनन्दमय का अर्थ यह है कि ब्रह्म में अति आनन्द है।

प्रश्न—विकार जो छे प्रकार के वतलाये हैं वह कौनसे हैं?

उत्तर—उत्पन्न होना, वढ़ना, एक सीमा तक वढ़कर ठहर जाना, आकृतियाँ वदलना, घटना और नाश हो जाना—ये छः विकार हैं। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसमें ही विकार होता है। ब्रह्म की उत्पत्ति नहीं इसलिये ब्रह्म को आनन्दमय कहने से इस स्थान में मय का अर्थ विकार नहीं लेना होगा; किन्तु अधिकता लेनी होगी।

प्रश्न—यदि ब्रह्म में विकार मान लो, तो क्या दोष होगा?

उत्तर—इस दशा में ब्रह्म का कोई कारण स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि कारण के विना विकार नहीं हो सकता। जितने नित्य पदार्थ हैं, उनमें विकार नहीं होता; इस कारण ब्रह्म के अनादि अथवा जगत् का कर्ता होने से मय का अर्थ अधिकता लेना ही उचित है। इसपर युक्ति देते हैं कि आनन्द की अधिकता ही क्यों ली जावे, विकार क्यों न लिया जावे।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदार्थ—(तत्) उसका (हेतु) कारण (व्यपदेशाच्च) वतलाया जाने से।

भावार्थ—जिस किसी को आनन्द मिलता है, वह सव ब्रह्म के कारण प्राप्त होता है। यह उपदेश सव वेद, उपनिषद्

और शास्त्रों में विधान किया गया है; इस कारण जिसके पास अधिक आनन्द हो, वह हो दूसरों को आनन्द देने का कारण हो सकता है। जिस प्रकार सृष्टि में जिसके पास अपने उदर से विशेष अन्न होता है, वही दूसरों को अन्न-दान करके उनकी क्षुधा दूर कर सकता है। इसलिये आनन्द का हेतु ब्रह्म * है। समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में जीव ब्रह्म के कारण ही आनन्द को प्राप्त कर सकता है, इसलिये विशेष आनन्दवाला होने से ब्रह्म "आनन्दमय" कहा जा सकता है। इस पर और युक्ति देते हैं।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

पदार्थ—(मान्त्रवर्णकम्) वेद-मन्त्रों में (एव) ही (गीयते च) गान किया गया है।

भावार्थ—वेद-मन्त्रों † में भी बतलाया गया है कि ब्रह्म विशेष आनन्द देनेवाला है। जैसे—बतलाया है कि जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। इस प्रकार अधिक स्थानों पर ब्रह्म को परमानन्दवाला बतलाया गया है। इस कारण सब उपनिषद् ब्राह्मणों और वेदों में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ जीव को आनन्दमय बतलाया गया हो; किन्तु ब्रह्म ही आनन्दस्वरूप है। जीव उससे आनन्द प्राप्त करता है। जैसे—अग्नि में स्वरूप से उष्णता है; हम उससे उष्णता प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप होने में जितने वाक्य उपस्थित किये गए हैं, वह सब ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं; सूत्र में इनको मन्त्र क्यों लिखा?

---

* समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता। सां० ५। ११६

† यत्र देवा अमृतमानशानः। यजुः अ० ३१

उत्तर—क्योंकि ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं। यदि व्याख्यान मूल के विपरीत न हो, तो उसमें अंतर नहीं समझा जाता; इस कारण मंत्र के स्थान में ब्राह्मण को उपमा दी। जिस अंश में ब्राह्मण वेद के विरुद्ध होगा, वहाँ उसको वेद से पृथक् समझ लिया जावेगा। यहाँ तक सूत्रकार ने ब्रह्म सच्चिदानंद सिद्ध किया अब विपक्षी शङ्का करता है।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (इतर) जीव आनन्दमय (अनुपपत्तेः) युक्तियों से सिद्ध न होने से।

भावार्थ—जीव आनंदस्वरूप नहीं; क्योंकि युक्ति से वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—जीव को आनंदस्वरूप मानने से क्या दोष होगा? हम तो मानते हैं कि जीव आनंदस्वरूप है; अविद्या से अपने को शून्य मानता है।

उत्तर—जीव को आनंदस्वरूप मानने से सब शास्त्र वेद और मोक्ष के साधन व्यर्थ हो जावेंगे; क्योंकि उस दशा में जीव बंधन से रहित होगा; फिर किसके छुड़ाने के लिये शास्त्र बनाये जायेंगे? आनंदस्वरूप में अविद्या नहीं आ सकती।

प्रश्न—सब वेदांती तो मानते हैं कि जीव तो आनंदस्वरूप है, तुम कहते हो कि हो ही नहीं सकता।

उत्तर—हम क्या कहते हैं। वेदांत के आचार्य्य व्यासजी कह रहे हैं कि जीव का आनंदस्वरूप होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि यदि आनंदस्वरूप है, तो वह किसी अवस्था में दुःख अनुभव नहीं कर सकता। जिस प्रकार

अग्नि उष्ण है; वह शीतल नहीं हो सकती; जबकि जीव दुःखी न हो, तो मुक्ति की आवश्यकता ही क्या ? क्योंकि मुक्ति उसे कहते हैं जबकि अत्यंत दुःख की निवृत्ति और आनंद की प्राप्ति हो। जीव के आनंद-स्वरूप होने से कष्ट उसे हो ही नहीं सकता और आनंद उसे प्राप्त है। यदि जीव मुक्ति स्वरूप है, ऐसी दशा में तो मुक्ति के लिये जो शास्त्र बनाये गये हैं व्यर्थ हैं।

प्रश्न—वास्तव में जीव आनंदस्वरूप है; परंतु अविद्या का आवरण आ जाने से वह आनंद का अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि आनंद और जीव के बीच परदा आ गया।

उत्तर—आवरण दो द्रव्यों के बीच तीसरे द्रव्य का आया करता है। आनन्द गुण है। गुण और गुणी के बीच परदा नहीं आया करता। इसके लिये कोई उदाहरण संसार में प्राप्त नहीं हो सकता कि जिस स्थान पर गुण और गुणी के बीच परदा आया हो; क्योंकि गुण और गुणी के बीच दूरी नहीं, जिसमें परदा रह सके। यदि गुण और गुणी के मध्य दूरी होती, तो उनका सदैव रहनेवाला सम्बन्ध न होता अर्थात गुण और गुणी में भी समवाय समवेत सम्बन्ध है।

प्रश्न—क्या जीव को आनन्दस्वरूप माननेवाले निश्चलदास आदि विद्वान् भूल कर सकते हैं ? यह तुम्हारा कथन असत्य है। हम तो मानते हैं; तुम्हीं भूल करते हो।

उत्तर—वेदान्त दर्शन के मूल कर्त्ता अर्थात् व्यासदेवजी जब मानते हैं कि जीव आनन्दस्वरूप नहीं सिद्ध होता और युक्ति से भी उसका खण्डन होता है, तो निश्चलदास आदि के लेख से किस प्रकार जीवात्मा आनन्दस्वरूप बन सकता है।

प्रश्न—क्या शंकराचार्य आदि ने अपने भाष्य में उसको स्वीकार कर लिया है ?

उत्तर—स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लिया है—न जीव आनन्दमय शब्देनाभिधीयते अर्थात जीव आनन्दमय शब्द से नहीं कहा जाता। युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। जो मनुष्य वेदान्त का अर्थ अभेदवाद में लगाते हैं, उनको इन सूत्रों को विचार से पढ़ना चाहिये।

प्रश्न—क्या जीव और ब्रह्म में भेद है, जो ब्रह्म को आनन्दमय और जीव को आनन्दमय न कहा जावे ?

उत्तर—

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पदार्थ—(भेद) भेद के (व्यपदेशात्) उपदेश होने से (च) भी।

भावार्थ—श्रुतियां और वेद-मन्त्रों ने जीव-ब्रह्म का भेद वतलाया है; क्योंकि जीव भीतरी ज्ञान और वाह्य ज्ञान दो प्रकार के ज्ञान रखता है और ब्रह्म में केवल भीतरी ज्ञान है। दूसरे ब्रह्म निष्काम स्वाभाविक कर्त्ता (फ़ायल-विलखास्सा) और जीव सकामकर्त्ता (फ़ायल-विल इरादा) इच्छा से कर्ता है। ब्रह्म के सब कर्म सदैव एक से होते हैं; जीव के कर्म अनियमित वा सापेक्ष हैं।

प्रश्न—क्या जीव नियमपूर्वक कर्म नहीं कर सकता ?

उत्तर—नियमपूर्वक कर्म कर सकता है; परन्तु उसके अल्प शक्तिवान् और अल्पज्ञ होने से उसके नियम एक से नहीं रह सकते। जीवों ने घड़ी वनाई। दस घड़ियाँ हैं, इनमें

प्रत्येक का समय न्यून व अधिक हो सकता है। रेलवालों ने समय नियत किया; बहुधा गाड़ी लेट हो जाती है; आपस में टकरा जाती है। मनुष्य के नियम अटल नहीं, परमात्मा के नियम अटल हैं। परमात्मा ने सूर्य्य-चन्द्रमा की चाल जिस नियम पर स्थिर की है; सदैव उस पर बँधी हुई है; इसी कारण ज्योतिष द्वारा दस सहस्र वर्ष में होनेवाले ग्रहण का पता लगा सकते हैं; अतः जीव-ब्रह्म का भेद वेद-शास्त्र और युक्तियों से सिद्ध होता है।

प्रश्न—क्या जिन मनुष्यों ने जीव-ब्रह्म को अभेद बतलाया है, वह भूल करते हैं?

उत्तर—वास्तव में तो जीव-ब्रह्म का अभेद बतलानेवालों का तात्पर्य यह था कि जीव से ब्रह्म दूर नहीं; जैसा कि मनुष्य चतुर्थ आकाश, सप्तम आकाश, वैकुण्ठ, क्षीरसागर, गोलोक आदि में ब्रह्म को मानते हैं और अपने से दूर और सान्त जानकर ब्रह्म से जीव तक खबर लाने के कारण दूत, बरज़ख, और फ़रिश्तों आदि की कल्पना करते हैं। इसका खण्डन करना था; परन्तु साधारण और स्वार्थियों ने उसको उलटा समझ लिया। अभेद का अर्थ था दूरी का अभाव कि उसके जानने के साधनों में वियोग का न होना व उनका ज्ञान एक साथ होना; क्योंकि जीव के अन्दर ब्रह्म के होने से जीव से ब्रह्म दूर नहीं। शुद्ध मन ही से जीव और ब्रह्म का ज्ञान होता है; इस कारण दोनों के जानने का साधन एक है। जिस प्रकार चक्षु अथवा चक्षु का सुर्मा दोनों दर्पण द्वारा देखे जाते हैं, इनके जानने के साधनों में भेद नहीं। तीसरे चक्षु अथवा चक्षु के सुर्मा का ज्ञान भी एक साथ होता है। इन कारणों से जीव-

ब्रह्म अभेद बतलाया है। दोनों के स्वरूप में भेद तो सब श्रुतियाँ और युक्तियाँ वर्णन करती हैं।

कामाच्चनानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

पदार्थ—(कामात्) इच्छा के होने से (च) भी (न) नहीं (अनुमानापेक्षा) अनुमान की आवश्यकता।

भावार्थ—जीव को आनन्द की कामना अर्थात इच्छा है और इच्छा उस वस्तु की होती है, जो लाभदायक अथवा अप्राप्त हो; इसलिये उस अनुमान को आवश्यकता ही नहीं कि जीव आनन्दस्वरूप है। यदि आनन्द अप्राप्त न हो, तो उसकी इच्छा किस प्रकार हो सकती है। यह अटल नियम है कि दुःख-कारक प्राप्ति से घृणा होती है और सुखकारक अप्राप्त की इच्छा होती है।

प्रश्न—यह कथन कि लाभदायक और अप्राप्त की इच्छा होती है सत्य नहीं; क्योंकि इस पर आक्षेप हो सकता है। बहुधा विद्वानों की यह सम्मति है कि प्राप्त (हासिल) को भी भूल हो जाने पर इच्छा होती है। जिस प्रकार ब्रह्म प्रत्येक जीव के निकट है; परन्तु न जानने के कारण जीव उसको प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

उत्तर—प्राप्ति अन्य प्रकार से होती है। कर्म इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनके पकड़ने से; ज्ञान इन्द्रियों के विषयों के जानने से और जड़ वस्तुओं में संयोग से। जबकि जीवात्मा चेतन है, तो उसको प्राप्ति केवल ज्ञान से होती है; जब जीवात्मा ब्रह्म को नहीं जानता, तब उसको ब्रह्म की प्राप्ति होती है

और वह जानने की इच्छा करता है; अतः इच्छा अप्राप्त और लाभदायक वस्तु की ही हुआ करती है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

पदार्थ—(अस्मिन्) इस प्रकृति में (अस्य) इसका (च) और (तद्योगं) उसका योग अर्थात् मिलाप (शास्ति) बतलाया गया है।

भावार्थ—उस प्रकृति और जीव में आनन्दमय शब्द का अर्थ नहीं; किन्तु ब्रह्म में ही हो सकता है; क्योंकि यदि प्रकृति और जीव आनन्दस्वरूप होते, तो संसार में कोई जीव आनन्द से रहित न होता; इस कारण बन्धन अथवा मुक्ति की व्यवस्था ही नहीं रहती। अतः मुक्ति के लिए ब्रह्म का योग बतलाया है, प्रकृति की उपासना से बन्धन का उपदेश किया है और ब्रह्म का लक्षण बतलाया गया है कि जिसमें आनन्द के सिवाय दुःख नहीं है। दुःख को तो न इन्द्रियों से अनुभव करता है न वेद के उपदेश में ब्रह्म के भीतर दुःख सुना जाता है और न युक्तियों से ब्रह्म में दुःख का ज्ञान होता है; इस कारण ब्रह्म भूमा है और उसमें दुःख का लेश नहीं है। आनन्द की अधिकता से अर्थ आनन्द-स्वरूप का है। जैसे अग्नि में उष्णता की अधिकता है, उसमें कदापि शीतलता आ ही नहीं सकती; ऐसे ही ब्रह्म में दुःख नहीं आ सकता।

प्रश्न—ब्रह्म में दुःख क्यों नहीं आ सकता ?

उत्तर—दुःख परतन्त्रता है, जो इच्छा और राग के होने से होता है। राग लाभदायक और अप्राप्त वस्तु का होता है। ब्रह्म को तो न कोई वस्तु लाभदायक है और न अप्राप्त है; क्योंकि

लाभदायक दो प्रकार की वस्तुयें होती हैं—एक जो दोष को दूर करे, दूसरी जो न्यूनता पूरी करे, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और पूर्ण है; इस कारण ब्रह्म के लिये कोई वस्तु लाभदायक नहीं और अप्राप्त भी नहीं; क्योंकि उसमें कोई वस्तु दूर नहीं। दूरी तीन प्रकार की होती है—प्रथम देश से, दूसरी काल से और तीसरी ज्ञान से। ब्रह्म के सर्वव्यापक होने से कोई पदार्थ देश के कारण उससे दूर नहीं हो सकता; ब्रह्म सर्व काल में है अतः कालकृत दूरी भी उसमें नहीं और सर्वज्ञ होने से कोई वस्तु ऐसी नहीं; जिसको ब्रह्म न जानता हो; अतः ज्ञानकृत दूरी भी नहीं। अतः न तो ब्रह्म में इच्छा और न उसमें रुकावट, फिर दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है। इस कारण ब्रह्म ही आनन्द-स्वरूप है। जीव-ब्रह्म के भेद और ब्रह्म के आनन्दमय होने में और युक्ति देते हैं।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

पदार्थ—(अन्तः) अन्दर है (तत्) वह (धर्मोप-देशात्) वेद के उपदेश से व उसका धर्म बतलाया जाने से।

भावार्थ—ब्रह्म जीव के अन्दर है; क्योंकि श्रुति उसका उप-देश करती है कि जो आत्मा में रहता है और जीवात्मा से पृथक् है, जिसको यह जीवात्मा नहीं जानता, जिसका यह जीवात्मा शरीर है। जिस प्रकार शरीर के भीतर जीव रहता है, जो जीवात्मा से पृथक् अथवा उसके कर्मों का साक्षी अर्थात् देखनेवाला है, वह आत्मा तेरा अन्तर्यामी है। उस श्रुति को देखकर किसी मूर्ख को ही यह शङ्का रह सकती है कि जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है। स्पष्ट शब्दों में जीव-ब्रह्म का

भेद ही प्रकट होता है और भी अनेक श्रुतियों में प्रकट किया गया है कि जीव आत्मा के अन्तःकरण में परमात्मा है। जिस प्रकार चक्षु में सुर्मा होता है, परन्तु दृष्टि नहीं आता; ऐसे ही जीव के भीतर ब्रह्म है, परन्तु जीव उसको नहीं जानता।

प्रश्न—अन्य मनुष्य तो इस स्थान पर छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुतियाँ प्रस्तुत करते हैं; तुमने यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुति प्रस्तुत की?

उत्तर—यह श्रुति किसी भाँति अद्वैतवाद में नहीं लग सकती; इस कारण अद्वैतवादियों ने उस श्रुति को प्रस्तुत नहीं किया। वे श्रुतियाँ प्रस्तुत कीं, जिनको वह अद्वैतवाद की राह में रुकावट नहीं समझते थे; परन्तु यहाँ पर जीव अथवा ब्रह्म का भेद दिखला रहे हैं और सूत्रकार इस श्रुति को लक्ष्य करके लिखते हैं; यहाँ तक कि उस श्रुति को अद्वैतवाद के मत में रुकावट समझकर पृथक् कर दिया है।

प्रश्न—क्या यह श्रुति वृहदारण्यकोपनिषद् में नहीं है?

उत्तर—यह श्रुति शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें * काण्ड में है। वृहदारण्यक में वहाँ की सब श्रुतियाँ हैं; केवल उस श्रुति को पृथक् कर दिया है।

प्रश्न—क्या शंकराचार्य ने जो अद्वैतवादियों में शिरोमणि थे उस श्रुति को पृथक् कर दिया है?

उत्तर—शंकराचार्य्य जैसे विरक्त धर्मात्मा का यह कर्म नहीं; वरन् शंकराचार्य्य की पुस्तकों में स्पष्टतया द्वैतवाद भी झलकता है; परन्तु बाद के पण्डितों ने जिन्होंने उपनिषदों को छापा उस श्रुति को पृथक् कर दिया।

---

* य आत्मनितिष्ठन्नात्मन अन्तरोपमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।

प्रश्न—क्या प्रमाण दें कि श्रुति शंकराचार्य्य ने पृथक् नहीं की ; किन्तु उनके पीछेवालों ने पृथक् की ?

उत्तर—शंकराचार्य्य के भाष्य पर टीका करते हुए भामती × के कर्ता वाचस्पति मिश्र ने इस श्रुति को लिखा है, इस कारण उसके पीछे अलग हुई ; पूर्व नहीं।

प्रश्न—क्या जीव से ब्रह्म पृथक् है ? इस समय तो मनुष्य जीव और ब्रह्म को एक जानते हैं।

उत्तर—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२१॥

पदार्थ—(भेदव्यपदेशात्) श्रुतियों में जीव और ब्रह्म का भेद बतलाया जाने से (च) और (अन्यः) जीव और ब्रह्म पृथक् वस्तु हैं।

भावार्थ—शरीर के अभिमानी जीवों से भिन्न ब्रह्म है, जो सब जीवों का अन्तर्यामी है ; सूर्य्य आदि सब भूमण्डलों का अन्तर्यामी अर्थात् उनको नियमानुसार चलाने वाला है ; अग्न्यादि पञ्चभूतों का अन्तर्यामी अर्थात् उनको शक्ति देनेवाला है, इस कारण जीव अथवा प्रकृति से ब्रह्म पृथक है।

प्रश्न—क्या शंकराचार्य्य ने इस सूत्र को जीव और ब्रह्म के भेद में लगाया है ?

उत्तर—शंकराचार्य्य स्पष्ट शब्दों में इस सूत्र के अर्थ में

× पृष्ठ २८० शारीरिक मीमांसा भाष्यम् रत्नप्रभा न्याय निर्णय व्याख्यात्रयोपेतम् श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालये मुद्रितम्।

जीव-ब्रह्म का भेद ॐ स्वीकार करते हैं, जिसे कोई अभेद में नहीं लगाता।

प्रश्न—वह कौनसे मन्त्र अथवा श्रुतियाँ हैं; जिनमें जीव और ब्रह्म को अलग-अलग बतलाया गया है।

उत्तर—देखो ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ मन्त्र २० × जो जीव और ब्रह्म दोनों चेतन (सुदरिक) होकर एक दूसरे के भीतर रहने से मिले हुए अर्थात् ब्रह्म के भीतर जीव और जीव के अन्दर ब्रह्म दोनों मित्र हैं अर्थात् दोनों में मिलाप है। दोनों अपने जैसे अनादि वृक्ष प्रकृति के कार्य संसार में रहते हैं; जीव उसके फलों को भोगता है अथवा ब्रह्म सदैव साक्षी देखता है; भोगता नहीं। इस मन्त्र से तीनों का अनादि पृथक्-पृथक् होना स्पष्ट प्रकट है †। प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों जन्म से रहित हैं। इनमें प्रकृति जगत् का उपादान कारण (इल्लते-माद्दी) है और ब्रह्म निमित्त कारण है, जो इसके फलों को नहीं भोगता। जीव इसके फलों को भोगता है।

प्रश्न—जब वेद उपनिषद् और वेदान्तदर्शन सबही जीव-ब्रह्म का भेद मानते हैं, युक्ति से भी जीव-ब्रह्म भेद सिद्ध होता है और

ॐ अस्ति चादित्यादि शरीराभिमानिभ्योजीवेभ्योऽन्य ईश्वरोऽन्तर्यामी। शङ्कर भाष्य निर्णय सागर प्रेस।

× द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यःपिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

† अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णांबह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेतेजहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः।
श्वेताश्वितरोपनिषद् अध्याय ४ मं० ५।

शङ्कराचार्य्य ने भी भेद ही बतलाया है, तो मनुष्यों ने अभेद कहाँ से निकाल लिया।

उत्तर—प्राचीन ऋषियों के अर्थ को न समझने से इन अनभिज्ञों ने ब्रह्म में अविद्या का प्रवेश कर दिया। किसीने यह न सोचा कि कहीं सूर्य्य में अन्धकार हो सकता है? यदि सूर्य्य में अन्धकार हो, तो उसे दूर कौन करे; यदि ज्ञान-स्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या अर्थात् उलटा ज्ञान आ जावे, तो नष्ट करनेवाला कहाँ से आवेगा। न तो अविद्या ब्रह्म में आ सकती है न प्रकृति ही में; केवल अल्पज्ञ जीवात्मा ही अविद्या का स्थान है।

प्रश्न—छान्दोग्योपनिषद् * में लेख है कि आकाश से जगत् उत्पन्न हुआ।

उत्तर—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

पदार्थ—(आकाशः) आकाश ब्रह्म का नाम है (तत्) उसका (लिङ्गात्) चिन्ह होने से ॥

भावार्थ—छान्दोग्य उपनिषद् में जहाँ आकाश शब्द से जगत् की उत्पत्ति बतलाई है वहाँ आकाश ब्रह्म का अभिप्राय है; क्योंकि वहाँ बतलाया गया है कि सब भूत आकाश से उत्पन्न हुए। जब सब भूत आकाश से उत्पन्न हुए, तो आकाश एक भूत है। इस कारण वह भी उत्पन्न हुआ। निदान यहाँ आकाश शब्द ब्रह्म ही का नाम है।

---

* अस्यलोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच।
सर्वाणि हवा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते ॥
छा० अ० १ खं० च मं० १।

प्रश्न—जब आकाश से वायु, अग्नि, जल अथवा पृथ्वी की उत्पत्ति लिखी है, तो छान्दोग्य में आकाश का अर्थ भूत आकाश क्यों न लिया जावे; क्योंकि भूत आकाश प्रसिद्ध है; परन्तु ब्रह्म का नाम भी विभुत्व आदि गुणों के होने से आकाश हो; परन्तु प्रसिद्ध भूत आकाश को छोड़कर दूसरा अर्थ लेना उचित नहीं।

उत्तर—दूसरी जगह श्रुतियों ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि ब्रह्म से ही सब भूत उत्पन्न हुए हैं; जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भूतों की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है; इसलिये आकाश से उत्पत्ति लिखी है और ब्रह्म का लक्षण ही यह है कि जिससे सर्वत्र भूत उत्पन्न हों; अतः वहाँ आकाश शब्द से ब्रह्म ही लेना उचित है। इसमें ब्रह्म का लक्षण उत्पन्न करनेवाला पाया जाता है और जहाँ आकाश से उत्पत्ति बतलाई है, वहाँ आकाश की भी उत्पत्ति आत्मा से बताई है, जिसका अर्थ स्पष्ट है कि आकाश में स्वयम् हरकत देने की शक्ति नहीं। जिस प्रकार इंजिन की हरकत से एक गाड़ी को हरकत होती है; वह दूसरी गाड़ी को हरकत देती है और वह तीसरी को; यदि इस स्थान पर गाड़ी को गाड़ी हरकत देती दृष्टि पड़ती है; परन्तु वास्तविक हरकत इंजिन की है; अतः उत्पत्ति आत्मलिङ्ग होने से ब्रह्म ही आकाश शब्द से लेना उचित है। सिवाय चेतन ब्रह्म के जगत्कर्ता कोई नहीं हो सकता।

प्रश्न—बहुत जगह प्राणों से जगत् की उत्पत्ति लिखी है।

उत्तर—

अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

पदार्थ—(अतः) इसलिये (एव) भी (प्राणाः) प्राण ब्रह्म का नाम है ।

भावार्थ—सृष्टिकर्ता होना ब्रह्म का लिंग है; इस कारण जहाँ प्राणों को सृष्टिकर्ता बताया है, वहाँ प्राणों से अर्थ भी ब्रह्म का है ।

प्रश्न—ब्रह्म का नाम प्राण किस प्रकार हो सकता है ? हमने कहीं सुना भी नहीं ।

उत्तर—उपनिषद् ॐ में कहा है कि वह ब्रह्म प्राणों का भी प्राण है ; क्योंकि जिस प्रकार प्राण जीवों की आयु का कारण है ; उसी प्रकार ब्रह्म प्राणों की स्थिति का कारण है ; क्योंकि अग्नि और वायु के परमाणुओं के संयोग से प्राण बनता है । यदि ब्रह्म न हो, तो यह संयोग ही न रहे ; अतः प्राण भी ब्रह्म का नाम है ; क्योंकि वह संसार की आयु का उच्च कारण है ।

प्रश्न—प्राण जबकि साधारणतया आयु का कारण है ; और जिसको सब मनुष्य जानते हैं, तो फिर किस प्रकार प्राण ब्रह्म का नाम स्वीकृत किया जावे ?

उत्तर—बहुत स्थानों पर श्रुतियों ने प्राण को ब्रह्म के लक्षण के अनुसार प्रयुक्त किया जैसा कि लिखा है कि कुल प्राणी मरकर × प्राणों में ही सम्मिलित होते हैं ; प्राणों से स्थित रहते हैं, प्राणों से ही उत्पन्न होते हैं । अवभूत शब्द अग्न्यादि का नाम है, किन्तु प्राण अग्नि और वायु से उत्पन्न होता है ; इसलिये जहाँ जीवधारियों के कारण प्राण कहला सकते हैं, वहाँ अग्नि आदि के

ॐ प्राणस्य प्राणम् । बृहदारण्यक ४।४।१८

× सर्वाणि ह्वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युजिहते । छा० १।११।४,५

प्राण कार्य्य हैं। इसलिये सब भूतों के उत्पन्न करने वाले प्राण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई कार्य न तो अपने कारण की उत्पत्ति का कारण होता है और न नाश ही का कारण, जबकि श्रुति ने प्राण को सब भूतों की उत्पत्ति और नाश का कारण बताया है; इसलिये वहाँ प्राण का अर्थ ब्रह्म ही लेना होगा।

प्रश्न—क्या सब इन्द्रियों की हरकतों का कारण प्राण नहीं? प्राण ही से सब इन्द्रियाँ कर्म करती हैं; पुनः भूत से अर्थ इन्द्रियाँ लेकर प्राण ही मानने चाहिये।

उत्तर—इन्द्रियाँ निश्चय प्राणों का कार्य्य अर्थात् प्राणों के सहारे चलनेवाली हो सकती हैं; परन्तु भूत इन्द्रियों के कारण हैं और प्राणों के भी कारण हैं इसलिये भूतों की उत्पत्ति और नाश का कारण प्राण नहीं हो सकते; निदान प्राण से अर्थ ब्रह्म ही लेना उचित है; क्योंकि जहाँ एक शब्द अनेक अर्थों में आता है, वहाँ प्रकरण के अनुसार अर्थ लिया जाता है। अब प्राण के अर्थ यह हैं—प्रथम प्राणवायु अग्नि से सम्बन्धित हुए और दूसरे ब्रह्म; परन्तु विषय सब भूतों की उत्पत्ति के कारण का है और प्राण भूतों से उत्पन्न हुए हैं, जो किसी दशा में भूतों के कारण नहीं हो सकते। निदान प्राणों का वह अर्थ जिससे भूतों का कारण हो, लेना चाहिये और वह अर्थ केवल ब्रह्म ही है।

प्रश्न—क्या और किसी वस्तु का अर्थ भी उपनिषदों से इस प्रकार लिया गया है।

उत्तर—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

पदार्थ—(ज्योतिः) आकाश का (चरण) साधन (अभिधानात्) बतलाये जाने से।

भावार्थ—बहुत स्थानों पर ज्योतिः अर्थात् प्रकाश के नाम से भी ब्रह्म बताया गया है; जैसेंकि उपनिषदों में लिखा है ॐ।

प्रश्न—अब उस सूर्य्य से परे जो प्रकाश प्रकाश करता है, जो विज्ञानियों के विज्ञान के भीतर, सब उत्तम और नीच मनुष्यों के अन्दर और जो इस पुरुष के अन्दर ज्योति है; क्या यह ज्योति ब्रह्म की है अथवा अग्नि सूर्य आदि की है?

उत्तर—उस स्थान पर ब्रह्म का कोई लिंग तो प्रत्यक्ष तथा विद्यमान नहीं होता, जिससे ब्रह्म ले सकें; परन्तु जीव-आत्मा के अन्दर भौतिक अग्नि व सूर्य्य की ज्योति नहीं जा सकती; इस कारण ब्रह्म को ज्योति ही लेना उचित है अर्थात् पुरुष के भीतर जो ज्योति है, वह केवल ब्रह्म का ही प्रकाश है।

प्रश्न—क्या पुरुष के भीतर प्रकृति का प्रकाश नहीं जा सकता?

उत्तर—यह नियम है कि स्थूल के अन्दर सूक्ष्म के गुण चले जाते हैं; परन्तु सूक्ष्म के अन्दर स्थूल के गुण नहीं जा सकते; क्योंकि पुरुष प्रकृति से सूक्ष्म है, इस कारण प्रकृति के गुण पुरुष में नहीं जा सकते।

प्रश्न—यदि पुरुष के भीतर प्रकृति के गुण नहीं जा सकते, तो प्रकृति की उपासना से पुरुष को दुःख कैसे हो सकता है; क्योंकि दुःखस्वरूप प्रकृति है; वह पुरुष के अन्दर जा नहीं सकती।

ॐ इदं वाव तद्यदिद मस्मिन्नन्तः पुरुष ज्योतिः।

छा० ३। १२। ७

गुणी और गुण का ऐसा सम्बन्ध है कि जहाँ गुणी जायेगा, वहीं गुण जायेगा ; बिना गुणी के अन्दर गये दुःख जो उसका गुण है, किस प्रकार जीवात्मा में प्रवेश कर सकता है ?

उत्तर—मन प्रकृति का कार्य होने से स्थूल है, इस कारण प्रकृति का गुण जो दुःख है, वह मन के भीतर समा जाता है ; जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता से मन में अहंकार रखता है, इस कारण मन के गुण को अपने में स्वीकार करता है और चेतन का सम्बन्ध अहंकार से ही होता है, इस कारण जिस पदार्थ में अहंकार होता है उसकी हानि-लाभ को जीव अपने में मानता है।

प्रश्न—क्या जीव को दुःख-सुख नहीं होता ; किन्तु अज्ञान से जीव अपने में मानते हैं ?

उत्तर—दुःख और सुख तो जीव में औपाधिक गुण होते हैं। केवल थोड़ी शिक्षा के कारण जीव अपने में विचार करता है। आनन्द नैमित्तिक गुण होता है, जो जीव के अन्तःकरण में है और निवास करनेवाले ब्रह्म से प्राप्त होता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार संभव है कि मन को दुःख हो और जीव उसको अपने में स्वीकार करे।

उत्तर—यह तो संसार में प्रत्यक्ष है कि जिस पदार्थ में अहंकार होता है उसीके दुःख को आत्मा अनुभव करता है। जैसे—किसीका घर अग्नि के भेंट हो जावे, तो अति दुःख होता है ; परन्तु यदि दो घण्टे भस्म से पूर्व उसने वह घर बेच दिया हो ; तो उसको कोई आपत्ति नहीं होती और क्या कारण है कि उस दिवस बुद्धिमान से बुद्धिमान बिलाप करने लगते हैं। इसी कारण सब शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है कि जीव-आत्मा मन

के अनुसार होता है। जैसी मन की वृत्ति होती है, वैसा ही जीव अपने को जानता है।

प्रश्न—संसार में ज्योति दो प्रकार की है—प्रथम स्वयम् प्रकाश, दूसरी पर प्रकाश। जब विचार कर देखते हैं, तो प्रथम दीपक का प्रकाश प्रतीत होता है; परन्तु वह प्रकाश सूर्य्य से उत्पन्न हुआ है। इस कारण दीपक स्वतः प्रकाशित नहीं; किंतु सूर्य से प्रकाशित हुआ है। पुनः जीव आत्मा सूर्य को स्वतः प्रकाश विचार करता है। तब जब सोचता है कि सूर्य्य अग्नि के परमाणुओं के संयोग से बना है, प्रज्ञाचक्षु (अंधे) को सूर्य्य से दिखाई नहीं देता, तब मालूम करता है कि सूर्य्य भी स्वतः प्रकाशित नहीं और तब चक्षु को स्वतः प्रकाश स्वीकार करता है। जब देखता है कि यदि मन का चक्षु इन्द्रियों से सम्बन्ध न हो, तो वह खुले नेत्रों से भी नहीं देख सकता, तो इससे विचार उत्पन्न होता है कि चक्षु स्वतः प्रकाशशील नहीं और बिना नेत्रों के भी बहुत से मनुष्य ज्ञानी दिखलाई पड़ते हैं; इसलिये निश्चय हो जाता है कि मन स्वतः प्रकाशशील है; परंतु जब जीवात्मा सुषुप्ति की दशा में गमन कर जाता है, तो मन किसी अवस्था में भी कुछ नहीं मालूम करता। इसलिये विचार उत्पन्न हो जाता है कि मन भी स्वतः प्रकाशित नहीं; किंतु जीवात्मा स्वतः प्रकाशित है; जिसकी शक्ति से मन प्रकाश करता है। जब जीवात्मा को देखते हैं कि बिना यंत्रों के कुछ नहीं जान सकता, तो यंत्र उसके अधिकार में नहीं। इस कारण पता लगता है कि जीवात्मा भी स्वतः प्रकाशित नहीं; किंतु जो जीव को यंत्र देकर जानने और करने योग्य बनाया है, वह प्रकाशस्वरूप आत्मा है। इस कारण शेष वस्तुओं में तो ज्योति परमात्मा के देने से आती है और परमात्मा ज्योतिःस्वरूप है।

इसलिये पुरुष के अन्तःकरण में जो ज्योति है वह परमात्मा ही है।

प्रश्न—उपनिषदों में * लिखते हैं कि यह सर्व भूत जो कुछ है, वह सब कुछ गायत्री है। क्या उससे छन्द जगत् का कारण सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—

छन्दोऽभिधान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(छन्दोऽभिधानात्) गायत्री छन्द वर्णन करने से (न) नहीं (इति चेत्) यदि ऐसा हो (न) दोष नहीं (तथा) ऐसे ही (चेतोर्पण निगदात्) गायत्री मन्त्र से ब्रह्म में एकाग्र करने से (तथाहि) ऐसे ही निश्चय से (दर्शनम्) और जगत् दिखलाया है।

भावार्थ—गायत्री मन्त्र द्वारा ब्रह्म से प्रार्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे अर्थात् दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों की ओर लगाये व प्रकृति की ओर से हटाकर आत्मा की ओर चलाये। इस कारण गायत्री शब्द भी उपचार से ब्रह्म ही का वाचक अर्थात् बतलाने वाला विचार करना उचित है ; क्योंकि अचेतन छन्द में जगत् को उत्पन्न करने और नाश करने की शक्ति नहीं। जहाँ नाश और उत्पत्ति का वर्णन आयेगा, वहाँ कर्ता ब्रह्म ही को लेना पड़ेगा।

---

* गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च। छा० ३।१२।१

प्रश्न—क्या कारण है कि प्रत्येक स्थान पर जहाँ कर्ता प्रकट करना हो, वहाँ केवल ब्रह्म ही को लेना चाहिये ?

उत्तर—जब पदार्थों के अन्दर तीन प्रकार की शक्ति—करने, न करने और उलटा न करने की हो नहीं सकती; इसलिये जहाँ जगत् के कर्ता का किसी शब्द से उच्चारण किया जावे, वहाँ वह शब्द केवल सर्वज्ञ, चेतन और सर्वव्यापक ब्रह्म ही को प्रकट करेगा।

प्रश्न—क्या चेतन जीवात्मा कर्ता नहीं ?

उत्तर—जीवात्मा औज़ारों के बिना कुछ नहीं कर सकता; जैसा कि उसके लक्षण न्याय के विद्वान करते हैं कि वह चेतन-स्वरूप है। निदान जीवात्मा सृष्टि-कर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि वह सृष्टि में औज़ार लेकर कर्म कर सकता है। जब तक जीवात्मा के पास शरीर इन्द्रिय वा मन आदि न हो तब तक वह कुछ कर्म नहीं कर सकता और जब तक शरीर को कोई न बनावे, वह स्वयम् बनकर जीवात्मा को करने में सहायता नहीं दे सकता। अतः शरीर हो तो जीव कर्म करे और शरीर को बनानेवाला हो, तो शरीर बने; इस कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और जगत्-कर्ता कोई नहीं।

प्रश्न—यदि जीव को जगत् बनाने के कारण शरीर की आवश्यकता है, तो ब्रह्म को क्यों नहीं ?

उत्तर—क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है, उससे बाहर कोई वस्तु नहीं और इन्द्रियें (हवास) बाहर की वस्तुओं को ही जान सकती हैं; इस कारण जीवात्मा शान्त होने से इन्द्रियों के बिना कर्म नहीं कर सकता और परमात्मा अनन्त होने से इन्द्रियों के बिना कर सकता है; क्योंकि भीतर कर्म करने के लिये किसी इन्द्रिय व औज़ार की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—क्या इसमें कोई प्रमाण है कि वेदों और उपनिषदों ने इस प्रकार शब्द और हो अर्थ और लिया हो ?

उत्तर—जिस प्रकार ब्रह्म को वेदों ने चार पादवाला * बतलाया और उसके एक पाद अर्थात् भाग में सब जगत् बताया है ; ऐसे ही गायत्री मंत्र भी ६२ अक्षरोंवाले चार पाद रखता है। इसी प्रकार और स्थान भी गणना समानता से एक शब्द दूसरे अर्थ का वर्णन करता देखा जाता है। जैसे ज्योतिषवाले चार गणना के स्थान वेदवाले देते हैं ; क्योंकि ज्योतिष की तिथियों में वेद कोई तिथि नहीं इस कारण वेदों के चार होने से वेद शब्द से चार (संख्या) का ग्रहण कर लिया जाता है।

प्रश्न—क्या वेद ने ब्रह्म को चार पाद अर्थात् भागों में विभक्त किया है ? यह तो निरा अनर्थ है।

उत्तर—यजुर्वेद के मंत्रों में बतलाया है कि ब्रह्म के प्रथम पाद में तो जगत् सब भूत हैं और त्रिपाद इससे पृथक् है ; जिसका अर्थ यह है कि मूर्ख जन बुद्धि की हीनता से यह न समझ लें कि ब्रह्म जगत् के तुल्य है ; किंतु वह उससे भी बाहर है।

प्रश्न—बुद्धि किस प्रकार स्वीकार कर सकती है कि ब्रह्म जगत् के अतिरिक्त भी है ?

उत्तर—जगत् का कारण प्रकृति केवल सत्य है और ब्रह्म के तीन गुण चित्, आनन्द और सत्ता, स्वतन्त्रता उससे पृथक् है ; इस कारण ब्रह्म चार पाद वाला है, निदान उपनिषद् के इस वाक्य में ब्रह्म ही लिया गया है ; गायत्री छन्द नहीं लिया गया।

प्रश्न—यदि गायत्री छन्द में हो पाद होते हैं, तो ब्रह्म ही ले सकते हैं ; परंतु पाद तो भूतों के भीतर भी बतलाये गये हैं।

---

* पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। यजु०

भूतादि पादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

पदार्थ—(भूतादि) पृथ्वी आदि में (पादव्यपदेशोपपत्तेः) उपनिषद् में पाद का उपदेश होने के कारण (च) से (एवं) ऐसे ही।

भावार्थ—गायत्री मंत्र में पाद होने से पृथ्वी आदि भूतों को भी ब्रह्म ही मानना पड़ेगा; इस कारण यहाँ बजाय गायत्री छंद के ब्रह्म मानना उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म हो जाने से भेद नहीं रहेगा; परंतु ब्रह्म को परमात्मा उच्चारण से प्रत्येक वस्तु में उसकी स्थिति है; इस कारण उपचार से प्रत्येक वस्तु को ब्रह्म कह सकते हैं जैसा कि उपनिषत्कार ने लिखा है कि यह सर्व जगत् ब्रह्म* है—इसमें उत्पन्न होने और उसमें लय होने से।

प्रश्न—क्या ब्रह्म सबका कारण होने से जगत् ब्रह्म हो सकता है।

उत्तर—जब वेद-मन्त्र यह लिखता है कि ब्रह्म का एक पाद सब जगत् के भूत अर्थात् परमाणु हैं और तीन पाद अमृत और जगत् से परे हैं, तो इस कारण ब्रह्म की शक्ति और उसके कार्य को यदि उपचार से ब्रह्म कहें, तो कोई दोष नहीं; इसलिये पूर्व वाक्य में ब्रह्म को गायत्री शब्द के कथन से कोई दोष नहीं। इसका न्याय सूत्रकार करते हैं।

उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

* सर्वंखल्विदं ब्रह्म। छा०।

पदार्थ—(उपदेशभेदात्) उपदेश पृथक्-पृथक् होने से (न) नहीं (इति चेत्) यदि यह हो (न) दोष नहीं (उभयस्मिन्) दोनों दशाओं में (अपि) भी (अविरोधात्) विरोध अथवा ज़िद न होने से।

भावार्थ—क्योंकि दोनों स्थानों में अलग-अलग उपदेश हैं इस कारण एक स्थान दूसरे के प्रत्याभिज्ञान नहीं है। यदि स्वीकार भी किया जावे, तो दोनों में विरोध न होने से कोई दोष नहीं।

प्रश्न—एक स्थान में तो द्यौ को ब्रह्म के तीन पाद का आधार अर्थात् निवासस्थान स्वीकार किया है, जहाँ यह बतलाया है कि प्रथम पाद में तो सब भूत हैं और शेष तीन पाद द्यौ में हैं और दूसरे स्थान में जो उससे परे द्यौ है यह सीमा के कारण बताया गया। जबकि दोनों स्थान भिन्न-भिन्न विभक्त अर्थात प्रकट करनेवाले चिन्ह हैं, तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि एक द्यौलोक ही उसका आधार भी हो और उससे परे भी हो।

उत्तर—क्योंकि मुहावरे के अन्दर ऐसे स्थानों पर दोनों का इस्तेमाल देखते हैं; इसलिये इनमें विरोध नहीं; जो दोनों न हो सके। जैसे—कोई कहता है कि वृक्ष की शाखा पर बाज बैठा है, दूसरे स्थान पर यह कहे कि वृक्ष की दूसरी शिखा पर बाज बैठा है; इनमें से विरोध नहीं केवल मुहावरे का भेद है; निदान दोनों अवस्थाओं में अर्थ एक ही निकलता है।

प्रश्न—द्यौलोक किसे कहते हैं?

उत्तर—सूर्य से ऊपर जो आकाश है; उसको द्यौलोक कहते हैं।

प्रश्न—जब ब्रह्म के एक पाद में सब भूत आ गये तो सूर्य से ऊपर का आकाश भी उसमें आ गया क्योंकि आकश पञ्चभूतों में है, तो भूतों से पृथक् द्यौलोक कौनसा रहा ?

उत्तर—बहुधा विद्वानों के विचार में अनुभवजन्य (खारजी) और स्मृतिजन्य (जेहानी) दो प्रकार का ज्ञान होता है वह अनुभवजन्य (खारजी इल्म) भूतों का ज्ञान उससे परे स्मृति को द्यौलोक से उत्प्रेक्षित करते हैं अर्थात ब्रह्म को चार पाद में सत्, चित, आनन्द और स्वतन्त्रता—इनमें सत् तो प्रकृति पाया जाने से एक पाद सब भूतों अर्थात् परमाणुओं में पाया जाता है, परन्तु चेतनता आनन्द और स्वतन्त्रता अनुभव में इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती वह बुद्धि से जानी जाती है यह बुद्धि द्यौलोक है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सत्य हो सकता है; क्योंकि वहाँ द्यौलोक बतलाया गया है ?

उत्तर—सम्भव तो यह है; क्योंकि लोक जिस धातु से बना है उसका अर्थ दर्शन है और दिव् कहते हैं प्रकाशशील अर्थात् प्रकाशित वस्तुओं, प्रकाश स्वरूप वस्तुओं का जहाँ दर्शन हो उसका नाम द्यौलोक है; क्योंकि बुद्धि में जीव ब्रह्म का दर्शन होता है। इसकारण उसे द्यौलोक कहते हैं।

प्रश्न—ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जहाँ बुद्धि से जीव और ब्रह्म का ज्ञान होता है ?

उत्तर—केन उपनिषद् में बताया गया है कि उसी आकाश में एक स्त्री + आई और उसने बताया कि यह ब्रह्म है। वहाँ स्त्री से

+ स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम् केन० ३।२५

अर्थ बुद्धि ही है। दूसरे और भी श्रुति कहती है कि वह सूक्ष्म × बुद्धि से जाना जाता है, इस कारण बुद्धि को द्यौलोक कहना असत्य नहीं ; इसकारण ज्योति शब्द से भी ब्रह्म ही लेना चाहिये।

प्रश्न—कौशीतकी ब्राह्मण में इन्द्र और वृत्र की कथा में लिखा है कि उसने कहा—मैं प्रज्ञातीत्मा प्राण हूँ, मैं अमृत हूँ, मैं आयु हूँ, तू मेरी उपासना कर। क्या उस जगह प्राण शब्द ब्रह्म के लिये, जीव के लिये व स्वासों के लिये हैं?

उत्तर—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(प्राणः) प्राण से अर्थ ब्रह्म है (तथा) ऐसा ही (अनुगमात्) नतीजा निकालने व निश्चय होने से।

भावार्थ—यद्यपि प्रथम भी वतला चुके हैं कि प्राण शब्द ब्रह्म के लिये ही आया। यहाँ भी प्राण का शब्द ब्रह्म के लिये आया है ; क्योंकि इस स्थान पर प्राण को आनन्द अजर अमर वतलाया है। अव प्राणवायु अर्थात् श्वास तो अमर नहीं ; क्योंकि वह अग्नि व वायु द्वारा उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुई वस्तु नाशवाली होने से अमर नहीं हो सकती जीवात्मा व ज्ञान आत्मा कहने से ले सकते हैं ; परन्तु पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं निदान ब्रह्म ही लेना उचित है।

प्रश्न—क्योंकि मुक्ति में जीव में भी आनन्द होता है ; इस कारण जीव लेना उचित है ; क्योंकि इन्द्र आदि जीव हैं।

उत्तर—यद्यपि उस स्थान पर ऐसे शब्द हैं कि जिनसे जीव और प्राण भी लिये जा सकते हैं ; परन्तु सारे विषय पर विचार

× दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या।

करने से अर्थ ब्रह्म निकलता है; क्योंकि इन्द्र ने वृत्रासुर से कहा है कि मुझसे वर माँग अर्थात जो कुछ तेरी इच्छा हो वह प्रगट कर। उसके उत्तर में वह कहता है कि जो मेरे लिये सबसे उपयोगी हो; अतः सबसे अधिक उपयोगी ब्रह्म ही है; क्योंकि वेद ने बताया है कि उस ब्रह्म को जानने से मुक्ति होती है। मुक्ति के लिये सिवाय ब्रह्म के जानने के दूसरा साधन नहीं। दूसरे कहा है कि जो मुझको जानता है उसे कोई कर्म भी नहीं लगता। यह भी ब्रह्म के जानने पर ही हो सकता है ऐसे ही और भी अनेक शब्द हैं जिनसे विश्वास हो जाता है कि वहाँ प्राण से अर्थ ब्रह्म ही का है।

प्रश्न—क्योंकि इन्द्र कहता है कि मुझको जान; इस कारण प्राण का अर्थ ब्रह्म करना उचित नहीं?

उत्तर—

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बंधभूमा-ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (वक्तुरात्मोपदेशात्) कहने वाले के अपने उपदेश करने से (इति चेत्) यदि ऐसा माना जावे (अध्यात्मसम्बन्ध) आत्मा के अन्दर रहनेवाला (भूमा) परमात्मा है (हि) निश्चय करके (अस्मिन्) उस स्थान पर व उस विषय में।

भावार्थ—यह कथन कि कहनेवाले इन्द्र ने उस स्थान जानने के कारण अपने आत्मा का उपदेश किया इस कारण जीवात्मा लेना उचित है, सत्य नहीं; क्योंकि आध्यात्मिक सम्बन्ध से इन्द्र के आत्मा के भीतर रहनेवाला ब्रह्म ही उस स्थान पर लिया गया

है; क्योंकि जीवात्मा अनेक हैं; उनमें से किसी एक के जानने से मुक्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म एक है उसके जानने से मुक्ति होती है।

प्रश्न—जबकि इन्द्र स्पष्ट शब्दों में कहता है कि तू मुझको ही जान, मैं प्राण हूँ, मैं बुद्धि का आत्मा (फायल बिल इरादा) हूँ उस अहंकार को देखकर न तो प्राणवायु लिये जा सकते हैं और न अहंकार हो; केवल ब्रह्म ही लिया जाता है।

उत्तर—प्रत्येक आचार्य अभेद उपासना के ढंग पर अपने चेलों को ऐसा ही उपदेश करते हैं, जैसाकि श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश किया और भी ऋषियों ने कहा है। इस कारण सबके संग सम्बन्ध होने से यह आध्यात्मिक संयोग सर्वव्यापक परमात्मा के लिये ही हो सकता है अर्थात् प्रत्येक जीव की पृथक्-पृथक् मुक्ति किस प्रकार हो सकती है; और बतलाया यह गया है, जो सबसे अधिक उपयोगी है, जिसको सांख्य-दर्शन के कर्ता महर्षि कपिल ने सांख्य के अन्दर विवाद करते हुए भी सिद्ध किया है कि मोक्ष का सुख सब सुखों से अधिक है, उपनिषदों के अंदर भी ब्रह्मानंद को सबसे अधिक स्वीकार किया गया है, इन्द्र के आनंद से भी ब्रह्मानंद † करोड़ों भाग अधिक है; इस कारण मोक्ष की प्रशंसा यह की गई है की बीजसहित दुःख का दूर होना और परमानंद का प्राप्त होना; अतः आनंद की सीमा परमानंद से आगे नहीं। इसलिये जब इन्द्र उसको यह कहता है कि जो सब से अधिक उपयोगी है, तो स्पष्ट अर्थों में मुक्ति अर्थात् ब्रह्म आनंद की प्राप्ति को स्वीकृत करता है और ब्रह्म की प्राप्ति केवल

† तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ८ वाँ अनुवाक्।

ब्रह्म के जानने से होती है; इसलिये इन्द्र का अर्थ अपने आत्मा अर्थात् जीव के भीतर रहनेवाले ब्रह्म से है।

प्रश्न—किसीने और जगह भी अहंकार के साथ ब्रह्म का उपदेश किया है?

उत्तर—

शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशोवामदेववत् ॥ ३० ॥

पदार्थ—(शास्त्रदृष्ट्या) शास्त्र की दृष्टि से (तु) तो (उपदेशः) उपदेश किया है (वामदेववत्) वामदेव की भाँति।

भावार्थ—क्योंकि इन्द्र के अन्दर पूर्व जन्म के संस्कार विद्यमान थे, वहाँ उसने सुना हुआ था कि ब्रह्म-आत्मा के अन्दर है इस कारण वह जीव से दूर नहीं। जैसे वामदेव ऋषि ने बृहदारण्यक * उपनिषद् में अपने आपको ब्रह्म कहा है; ऐसे ही इन्द्र ने भी अभेद उपासना के ढङ्ग पर कहा है।

प्रश्न—क्या वामदेव, इन्द्र या कृष्ण को अपने को ब्रह्म कहना उचित है; क्योंकि बुद्धि से तो यह अविद्या प्रतीत होती है?

उत्तर—दो प्रकार से कहना उचित हो सकता है—एक तो जीव के अन्दर ब्रह्म है, जिसको मूर्खजन न जानने के कारण लगातार जगत् में टक्कर मारते हुए ब्रह्म की खोज करते हैं। यदि वह अपने को ब्रह्म समझ कर अपने स्वरूप में ब्रह्म की खोज करें, तो अवश्य अन्दर ब्रह्म मिल जायगा। अतः बाहर की खोज से छुड़ाकर अन्दर की खोज में लगाने के कारण।

* तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवंसूर्यश्च बृ० १।४।१०

दूसरे जब मुक्ति जीव व समाधि करनेवाला योगी ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके नैमित्तिक आनन्द से अपने सत्-चित स्वरूप को ब्रह्म अर्थात् कुछ देर के कारण सच्चिदानन्द-भाव को प्राप्त कर सकता है, तो उस समय उपचार से कह सकता है कि मैं ब्रह्म हूँ; परन्तु वास्तव में उसमें ब्रह्म का गुण नैमित्तिक आया होता है; इस कारण वह ब्रह्म से परे होता है। ऐसे ही इन्द्र ने ब्रह्मानन्द की अवस्था में मग्न होकर यह कहा हो कि तू मुझको जान, जिससे जाननेवाला जब जीव को जानेगा, तो उसको ब्रह्म का ज्ञान स्वयम् हो जावेगा। जैसे—किसीके नेत्र में सुर्मा हो और वह कहे कि चक्षु को देख, तो आँख के देखने से नेत्र के भीतरवाले सुर्मा का ज्ञान अवश्य हो जायगा; परन्तु वास्तव में नेत्र और सुर्मा पृथक् वस्तुयें हैं। एक दूसरे के अन्दर होने से एक के देखने से दूसरे का ज्ञान हो सकता है; जैसे—किसी लोहे के गोले में अधिक अग्नि भर रही है, तो अधिक गर्म से वह अग्नि रूप ज्ञात होता है। यदि किसी को कहे कि गोले को उठा ले, तो उसके संग अग्नि भी आयेगी। ऐसे ही उपासना के ढंग से योगी जनों ने यदि कहा है, तो कोई दोष नहीं; परन्तु मूर्ख जन जो विना स्वरूप के ज्ञान के केवल सुने सुनाये शब्दों से अपने को ब्रह्म कहते हैं यह महापाप है।

प्रश्न—क्या समाधि अथवा मुक्ति में जीव को ब्रह्म-रूप प्राप्त होता है अर्थात् उस समय वह ब्रह्मरूप हो जाता है और उसका जीवपन दूर हो जाता है?

उत्तर—निश्चय समाधि और मुक्त दशा में जीव में ब्रह्म-के सम्बन्ध से नैमित्तिक आनन्द गुण प्राप्त हो जाता है; परन्तु जीवपन दूर नहीं होता। जैसे—लोहे को अग्नि में डालने से वह

लाल अथवा गर्म हो जाता है जो अग्नि का स्वरूप है; परन्तु लोहापन उससे दूर नहीं होता; किन्तु उस अग्नि के तेज से छिपा रहता है।

प्रश्न—लाल अथवा गर्म लोहे में अग्नि के गुण जलाना आदि तो विद्यमान होते हैं; लोहापन का कौन गुण उसमें पाया जाता है।

उत्तर—अग्नि में बोझ नहीं; परन्तु लोहे का गोला अग्निरूप होकर भी बोझ अर्थात् वजनरहित नहीं होता; इस कारण अग्नि नैमित्तिक गुण आ जाने पर भी उसका स्वाभाविक गुण, जो बोझा है वह दूर नहीं होता।

प्रश्न—उस समय जीव का कौनसा गुण विद्यमान होता है, जिससे कहा जावे कि उसमें जीवपन विद्यमान है।

उत्तर—जीव का स्वाभाविक गुण जो अल्पज्ञता (कमइल्मी) है वह समाधि अथवा मुक्ति की अवस्था में भी विद्यमान होती है।

प्रश्न—आचार्य लोग तो कहते हैं कि समाधि अवस्था में जीव सर्वज्ञ हो जाता है और मुक्ति बिना तत्त्व ज्ञान के हो नहीं सकती?

उत्तर—वास्तव में समाधि की अवस्था में जीव को प्रत्येक पदार्थ के जानने को शक्ति हो जाती है और मुक्ति की दशा में तत्त्वज्ञान अवश्य होता है, परन्तु अल्पज्ञता उस समय भी विद्यमान रहती है।

प्रश्न—ब्रह्म के सर्वज्ञ (आलिमुल्कुल) होने में अथवा योगी के सर्वज्ञ होने में क्या भेद है?

उत्तर—ब्रह्म सर्वव्यापक होने से एक ही काल में सब वस्तुओं को जानता है और योगी में जानने की शक्ति होती है।

वह जिस वस्तु को जानता है उस समय भी अल्पज्ञता जो उसका स्वाभाविक गुण है विद्यमान रहती है।

प्रश्न—ब्रह्म सर्वव्यापक होने से एक ही काल में सब वस्तुओं को जानता है और योगी में जानने की शक्ति होती है। वह जिस वस्तु को जानना चाहे, उसको जान सकता है। एक ही समय में सबको नहीं जानता।

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान को अवस्था में अल्पज्ञता रह सकती है अर्थात् मुक्ति को दशा में जब जीव प्रत्येक वस्तु को स्थिति अर्थात् वास्तविकता को जानता है उस समय भी अल्पज्ञता जो उसका स्वाभाविक गुण है विद्यमान रहती है।

उत्तर—तत्त्वज्ञान अल्पज्ञता का विरोधी नहीं; किन्तु उलटे ज्ञान, भ्रमात्मक ज्ञान का विरोधी है; इस कारण उलटा ज्ञान भ्रमात्मक ज्ञान और तत्त्वज्ञान तो एक जगह रह नहीं सकते; परन्तु तत्त्वज्ञान और अल्पज्ञता दोनों एक साथ रह सकते हैं। यदि जीव का गुण मिथ्याज्ञान होता है, तो उससे तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता; यदि तत्त्वज्ञान होता, तो मिथ्याज्ञान हो नही सकता; इस कारण उसका गुण अल्पज्ञान (कमइल्मी) है। वह प्रत्येक अवस्था में उसके संग रहती है।

प्रश्न—जब अल्पज्ञ जीवात्मा सर्वज्ञ ब्रह्म की उपासना करता है, तो ब्रह्म के प्रकाश से प्रत्येक वस्तु को सत्य ज्ञान होता है और जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करता है, तो उसको प्रकृति के ज्ञान से रहित होने से ज्ञान पर आवरण आ जाने से उलटा ज्ञान आ जाता है। जिस प्रकार नेत्र में थोड़ी दूर तक देखने की शक्ति है; जब सूर्य के प्रकाश से चक्षु देखता है, तो उसको रूप का सत्य ज्ञान होता है और जब थोड़े अन्धकार

में देखता है, तो उसको उलटा ज्ञान अथवा भ्रम उत्पन्न होता है, जैसे ठूँठ में मनुष्य का ज्ञान और रज्जु में सर्प का ज्ञान आदि ; अतः जबकि मुक्ति का कारण तत्त्वज्ञान है और वह ब्रह्म की उपासना के बिना हो नहीं सकता ; इस कारण तत्त्वज्ञानी मनुष्य यदि उपचार से अपने को ब्रह्म कह दे, तो वास्तव में जीव ब्रह्म एक नहीं हो सकता।

प्रश्न—इस श्रुति में तो ब्रह्म अर्थ करना उचित नहीं ; जीव ही मुख्य अर्थ लेना चाहिये ; क्योंकि उसका लिंग प्राण विद्यमान है।

उत्तर—

जीवमुख्य प्राणलिंगान्नेतिचेत् नोपासात्रै-विध्यादाश्रितत्त्वादिहतद्योगात् ॥ ३१ ॥

पदार्थ—(जीवमुख्य) इस श्रुति में जीव मुख्य अर्थ है (प्राणलिंगात्) क्योंकि प्राण जीव का लिंग है (न) नहीं (इति चेत) यदि ऐसा हो (न) कोई दोष नहीं (उपासात्रैविध्यात्) उपासना के तीन प्रकार होने से (आश्रितत्वात) उसके आश्रय रहनेवाले से (इह) इस जगत् में (तद्योगात्) उसका योग होने से।

भावार्थ—यदि जाहिरी तौर पर प्राण को जीव का लिंग माना जाता है ; परन्तु वास्तविक वह जीव का स्वाभाविक लिंग नहीं ; क्योंकि जीव नित्य है और प्राण उत्पन्न हुआ है। किसी नित्य पदार्थ का स्वाभाविक लिंग उत्पत्तिमान पदार्थ नहीं हो सकता ;

किन्तु वह नैमित्तिक होने से अन्त में आया हुआ सिद्ध होता है और स्वाभाविक का उसके संग होना सदैव आवश्यक है। यदि जीव का लिंग प्राण मान भी लिया जावे; तो भी यहाँ ब्रह्म का ग्रहण करने में कोई दोष नहीं; क्योंकि तीन प्रकार की उपासना होती है और उपासना की अवस्था में उसके गुण अपने में देखकर अपने को उपचार से वह कह सकते हैं।

प्रश्न—तीन प्रकार की उपासना कौनसी हैं?

उत्तर—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीन अवस्थाओं में जीव-ब्रह्म की उपासना करता है। उस समय ब्रह्म के गुण अपने में पाकर वह अपने को ब्रह्म के आशय और उससे संयोग हुआ देखकर उसके आनन्द गुण को अनुभव करता हुआ जीव अपने को ब्रह्म कह सकता है, अतः उपनिषद् में प्राण शब्द से ब्रह्म लेना कोई दोष नहीं उत्पन्न करता।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो तीन प्रकार की उपासना इस भाँति मानते हैं—पहले प्राणधर्म से, दूसरे प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि धर्म से और तीसरे शरीर अर्थात् आयु धर्म से।

उत्तर—यह तीन भी वह ही हैं, केवल नाम मात्र भेद है। जिसका नाम समाधि है वह प्राण-धर्म से उपासना है; क्योंकि जीव-ब्रह्म की दूरी तीन प्रकार की हो सकती है अर्थात् जिस समय प्राणों के द्वारा इन्द्रियों से कर्म लेता है, तो उसकी वृत्ति परे चली जाती है; इस कारण उस समय प्राणों का धर्म जीव को ब्रह्म से पृथक् करता है। इसलिये जब प्राणों को रोककर समाधि होती है, तो प्राण धर्म से जो दूरी थी, वह दूर हो जाती है। दूसरे जब जीवात्मा बुद्धि से बाहर की वस्तुओं को विचारता है, तो उसको ब्रह्म वियोग और बाहर का ज्ञान होता है; इस

कारण जाग्रत और स्वप्न अवस्था में जीव और ब्रह्म में बुद्धि-धर्म की दूरी होती है; अस्तु जब सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के बाह्य विचार लुप्त हो जाते हैं, तब वह दूरी दूर हो जाती है; इस कारण यह बुद्धि धर्म से रहित उपासना हुई। तीसरे जब तक शरीर से जीव को उसकी रक्षा के कारण बाह्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध करना पड़ता है; तब तक वह शरीर धर्म की दूरी है; अतः जब मुक्ति में शरीर के नाश हो जाने से शरीर का झगड़ा नहीं रहता, तब वह दूरी भी दूर हो जाती है।

प्रश्न—जबकि "जीव प्राण धारणे" धातु है, जिससे स्पष्ट ज्ञात है कि जीव का प्राण लिंग है, इस कारण जीव प्राणी-मात्र का नाम है।

उत्तर—प्राण दो प्रकार के हैं—एक सामान्य और दूसरे मुख्य। सामान्य प्राण तो प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं; जैसे—सूर्य का प्राण चन्द्रमा रवि नाम से प्रसिद्ध किया गया है। अब सामान्य प्राण तो प्रत्येक जड़ और चेतन पदार्थ में रहते हैं, जिससे पदार्थ के ६ विकार अर्थात् उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृतियें परिवर्त्तन करना, घटना, नाश होना, पाया जाता है; परन्तु विशेष प्राण उन शरीरों में रहते हैं, जिनमें जीवात्मा रहता है; जिससे मानसिक चेष्टा होती है। जिस प्रकार के विचार जीवात्मा करता है, उसी प्रकार के प्राण करते हैं; अतः इस पाद में व्यासजी ने ३१ सूत्र बनाये, जिनमें से प्रथम में तो कुल दर्शन के उद्देश बतलाये; दूसरे सूत्र में ब्रह्म को सत्य सिद्ध किया; तीसरे सूत्र से ग्यारहवें सूत्र तक ब्रह्म को चित् सिद्ध किया; बारहवें

सूत्र से इक्कीसवें तक जीव के आनन्द-स्वरूप होने का खण्डन और जीव-ब्रह्म का भेद सिद्ध किया और शेष दस सूत्रों में उपनिषदों के अन्दर जहाँ आकाश, प्राण आदि बतलाया गया है, उनको ब्रह्म का नाम ही बतलाया। अब इस पाद से स्वयम् स्पष्ट है कि आजकल मायावादी ब्रह्म को अभेद प्रगट करते हैं, वह वास्तविक सत्य नहीं।

व्यास सूत्र उपनिषद में जीव-ब्रह्म का भेद बतलाते हैं। अब आगामी पाद में पूर्व पाद का समर्थन युक्ति से प्रस्तुत करेंगे और अन्य उपनिषद् वाक्यों की संगति भी करते जायेंगे

वेदान्त दर्शन

द्वितीय पाद

जिन उपनिषदों के शब्दों में स्पष्ट ढंग पर ब्रह्म के लक्षण पाये जाते हैं, उनको तो प्रथम पाद में बतला दिया; अब द्वितीय पाद में उन शब्दों की प्रसिद्धि; जिनमें ब्रह्म के चिह्न नहीं हैं, परन्तु अर्थ उनसे ब्रह्म का ही है, व्यवस्था करेंगे।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पदार्थ—(सर्वत्र) प्रत्येक स्थान पर (प्रसिद्धोपदेशात्) प्रत्यक्ष उपदेश होने से।

भावार्थ—छान्दोग्य उपनिषद्* में बताया गया है कि यह सब जगत्, जो दीखता है, निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है; क्योंकि उसीसे उत्पन्न हुआ, उसीसे स्थित रहता है और उसीमें लय हो जाता है; इसीलिये उसकी उपासना करो; क्योंकि वह शान्ति से प्राप्त होता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा के बिना और किसी प्रकार शान्ति नहीं हो सकती है?

---

* सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशान्त उपासीत।

उत्तर—बहुत सी वस्तुओं के देखने से किसी में राग और किसी में द्वेष उत्पन्न होता है। जब एक ही वस्तु हो, तो किसमें राग और किसमें द्वेष हो; इस कारण जब तक जीवात्मा बाहर की प्रकृति से बने हुए जगत् को देखता है, तब तक उसे राग-द्वेष बना रहता है; जिससे आत्मा के भीतर अशान्ति बनी रहती है, रागवाली वस्तु की इच्छा होती है, उसके प्राप्त न होने से क्लेश रहता है और द्वेष वाली वस्तु से भय बना रहता है। दोनों अवस्थाओं में जीव अशान्त रहता है; परन्तु जिस समय परमात्मा के स्वरूप के संग सम्बन्ध करता है-जैसे कि सुषुप्ति में-तो शान्ति हो जाती है।

प्रश्न—एक जगह सब वस्तुओं को ब्रह्म बतलाया है, दूसरी जगह बतलाया है कि निश्चयपूर्वक पुरुष यज्ञरूप है जैसे—यज्ञ इस लोक में पुरुष होता है, ऐसे ही वह दूसरे जन्म में यज्ञ कराता है अर्थात् जो मन के संयोग से व प्राण अथवा शरीर के सम्बन्ध से विकार को प्राप्त होता ज्ञात होता है। अब यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मनोमय, प्राणमय, अन्नमय आदि ब्रह्म से पृथक हैं वा ब्रह्म ही हैं।

उत्तर—जहाँ पर उपासना के लिये आये, वहाँ ब्रह्म ही लेना उचित है; शेष स्थानों पर श्रुति का अर्थ यह नहीं कि सब वस्तुएं ब्रह्म हैं; क्योंकि यदि सब वस्तुएं ब्रह्म होतीं, तो किसी वस्तु की विधि अथवा किसी का निषेध, जो श्रुति करती हैं, वह सब निष्फल हो जातीं। इस कारण श्रुति का अर्थ यह है कि जिस ब्रह्म से यह जगत् बनता, स्थित रहता और नाश होता है; तुम उसी जगत् की वस्तुओं से मुक्ति की इच्छा रखने के स्थान उस ब्रह्म से मुक्ति की इच्छा रक्खो। जबकि श्रुति ने स्पष्ट (जाहिरी

ढंग पर) उपदेश किया है कि उपासना के योग्य केवल ब्रह्म है, जीव और प्रकृति नहीं; इसलिये उपासना के स्थान पर ब्रह्म और अन्य स्थानों पर जिसका लक्षण पाया जाये, पूर्व वह लेना उचित है।

प्रश्न—यह किस प्रकार स्वीकार किया जावे कि वह ब्रह्म सर्वाङ्ग प्रसिद्ध है ?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र के जितने ग्रन्थ हैं, सब ग्रन्थों में ही जगत्कर्त्ता ब्रह्म है। उपासना-योग्य ब्रह्म आनन्दस्वरूप है; इस कारण जहाँ कहीं जगत्कर्त्ता के उपासना-योग्य होने वा आनन्दस्वरूप होने का वर्णन हो, तो शब्द चाहे कोई हो, उसका अर्थ जगत्कर्त्ता के उपासना-योग्य और आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही लिया जावेगा।

प्रश्न—प्रत्येक शब्द से ब्रह्म अर्थ लेने से अँधेर हो जावेगा। इस कारण उसके लेने के लिये कोई कसौटी होनी चाहिये।

उत्तर—

विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ॥२॥

पदार्थ—(विवक्षित) विद्यमान (गुणोपपत्तेः) गुणों के प्रगट होने से (च) भी वक्ता इष्ट अर्थात् कहनेवाले ने जिस अभिप्राय से कहा हो।

भावार्थ—बिना किसी कसौटी के प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक शब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं लिया जाता है; किन्तु जिस इच्छा वा लाभदायक विचार के कारण वक्ता ने उस शब्द का प्रयोग किया है; वह ही अर्थ उससे लेना चाहिये। जहाँ उपादेय गुण (सिफ़त) की उपस्थिति पाई जावे, वहीं वक्ता का अर्थ उस शब्द से समझना

चाहिये। जिस दशा में जगत्कर्त्ता का वर्णन वक्ता कर रहा हो, उस अवस्था में ब्रह्म को किसी भी नाम से जगत् का कर्त्ता कहें, उस नाम को ब्रह्म का पर्याय मानना पड़ेगा।

प्रश्न—वेद का अर्थ कैसे करोगे; क्योंकि उसका वक्ता कोई नहीं और न ईश्वर को कोई वस्तु उपादेय हो सकती है; क्योंकि उपादेय किसी न्यूनता के पूर्ण करनेवाले व दोष के परे करनेवाले को कहते हैं; अतः ईश्वर में न तो न्यूनता है और न दोष; इस कारण उसके लिये कोई उपयोगी वस्तु नहीं हो सकती; अतः वेद में किस प्रकार अर्थ किया जावेगा?

उत्तर—वेद के बनानेवाले के उपयोगी न होने से अर्थ में कठिनता हो सकती है; परन्तु जिसके लिये वेद बनाया गया है, जो उसके उपयोगी हैं, उसमें उपचार से अर्थ हो सकता है। जैसे कहा जाता है कि पुष्प में खुश शब्द है, तो यहाँ खुश का सम्बन्ध गन्ध (बू) से है; परन्तु अचेतन गन्ध (बू) के भीतर प्रसन्नता (खुशी) हो नहीं सकती; इस कारण अर्थ यह करते हैं कि जीव के प्रसन्न (खुश) करनेवाली गन्ध जब किसी वस्तु को खुशरङ्ग कहते हैं, वहाँ प्रसन्नता के सम्बन्ध रङ्ग से होते हैं; परन्तु रङ्ग जड़ है, जिसमें प्रसन्नता हो नहीं सकती; इस कारण जीव को प्रसन्न करनेवाला रङ्ग कहते हैं। ऐसे ही वेद के अर्थ उपचार से किये जा सकते हैं; निदान ऐसे स्थानों पर जहाँ उपासना का प्रकरण हो, जीव को आनन्द देनेवाले ब्रह्म की उपासना ही लेनी चाहिये; क्योंकि बतलाने का उद्देश्य उस ब्रह्म के गुण से है, जो स्पष्ट ढङ्ग पर पाया जाता है।

प्रश्न—मनोमय अथवा प्राणमय आदि शरीर के बिना नहीं हो सकता, इस कारण ब्रह्म क्या शरीरवाला है?

उत्तर—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

पदार्थ—(अनुपपत्तेः) सिद्ध न होने से (तु) निश्चय के कारण कहा गया (न) नहीं (शारीरः) देहधारी।

भावार्थ—मनोमय आदि शब्द ब्रह्म के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं; उनको शरीर-धारी जीव के साथ संयोग युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म सत्य संकल्प है। इस कारण उसका ज्ञान नित्य होता है और जीव सत्य संकल्प नहीं; क्योंकि वह ज्ञान-स्वरूप नहीं, वरन बाहर से ज्ञान को लेनेवाला है। उसके ज्ञान में भी न्यूनता और अधिकता होने से उसका ज्ञान सत्य अर्थात सदैव एकसा रहनेवाला नहीं कहा जा सकता; इसलिये श्रुति के बताये हुए शब्दों का अर्थ ब्रह्म ही से पूर्ण हो सकता है।

प्रश्न—क्या शरीर जीव के ही होता है; ब्रह्म अथवा ईश्वर के नहीं होता ?

उत्तर—शरीर तीन हैं—स्थूल शरीर जो दिखाई देता है; सूक्ष्म शरीर जो सत्रह संगठित—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच तन्मात्रायें और अहंकार—वस्तुओं का नाम है; इस प्रकार कारण शरीर जिसको लिंग शरीर, सूक्ष्म-शरीर और अतिवाहक-शरीर आदि नाम से प्रसिद्ध किया है; तीसरे कारण शरीर प्रकृति का नाम है—इस कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध जीव ही से होता है। ईश्वर का सम्बन्ध कारण शरीर से होता है, जिसकी यहाँ बहस नहीं।

प्रश्न—ब्रह्म, ईश्वर और जीव क्या तीन चेतन हैं ? हमने आजतक एकही चेतन सुना था; बहुधा पुरुष दो मानते हैं अर्थात् जीव और ब्रह्म।

उत्तर—वेदान्त की परिभाषा में तीन चेतन हैं—शुद्ध ब्रह्म और जीव की दो अवस्थायें ; एक बँधा हुआ, दूसरा मुक्त।

प्रश्न—क्या प्रकृति वा कारण शरीर ब्रह्म का भी शरीर है ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म उसमें रहता है ; परन्तु ब्रह्म उससे बड़ा है, इसलिये यह ब्रह्म का शरीर नहीं कहला सकता ; निदान कारण शरीर के संग सम्बन्ध देखने वाले को ईश्वर और स्थूल-सूक्ष्म शरीर के संग सम्बन्ध रखनेवाले को जीव कहते हैं।

प्रश्न—वेदान्ती तो उसका लक्षण और करते हैं अर्थात् माया उपाधि से जगत् बँधा हुआ ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या उपाधि से बँधा हुआ जीव है।

उत्तर—वेदान्तियों की परिभाषा में प्रकृति का नाम माया और विकृति अर्थात् प्रकृति के कार्य्यों का नाम अविद्या है। इस कारण शुद्ध सत्यप्रधान कारणउपाधि मायाउपाधि यह सब प्रकृति के नाम हैं। मलिन, सत्यप्रधान कार्य्य उपाधि माया से उत्पत्ति यह सब विकृति के हैं ; क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म शरीर प्रकृति का कार्य होने से अविद्या कार्य आदि नाम से विख्यात है ; इस कारण अर्थ सब का एक है।

प्रश्न—क्या माया प्रकृति का नाम है ? इसमें कोई प्रमाण है ?

उत्तर—श्वेताश्वितरोपनिषद् * में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि माया प्रकृति का और महेश्वर माया के स्वामी का नाम

*—मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।

है; क्योंकि मनोमय आदि कथन से सत्य संकल्प आदि परमात्मा के भीतर हो सकते हैं, जीवात्मा के नहीं। इस पर और युक्ति देते हैं।

कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

पदार्थ—(कर्म) हरकत वा जो किया जावे (कर्तृ) करनेवाला कर्म (व्यपदेशात्) उपदेश होने से (च) भी।

भावार्थ—क्योंकि कर्म का करनेवाला कर्ता बतलाया है; इस कारण जीवात्मा सत्य संकल्प नहीं हो सकता; किन्तु मानसिक चेष्टा अर्थात् इच्छा से किया हुआ कर्म सत्य नहीं हो सकता। इस कारण मनोमय आदि शब्द स्वाभाविक कर्ता परमात्मा के लिये आ सकते हैं; जीव के लिये नहीं। जीव तो कभी मन से काम लेता है, कभी नहीं।

प्रश्न—क्या वेदान्त प्रत्येक स्थान पर जीव और ब्रह्म का भेद ही मानता है?

उत्तर—क्या जिस प्रकार आजकल मूर्ख मनुष्य विना वेद-शास्त्र पढ़े वेदान्ती वन जाते हैं अथवा अविद्या का नाम विद्या रख लेते हैं, व्यास ऐसे थोड़े ही थे? स्वामी शंकराचार्य भी इन सूत्रों के भाष्य में जीव-ब्रह्म का भेद ही प्रकट करते हैं। व्यास और शंकर तो केवल ब्रह्म को जगत्कर्ता सिद्ध करते हैं। चूंकि ब्रह्म प्राप्ति रूप कर्म के कारण जीव उपासना क्रिया करता है; इस कारण जगत्कर्ता आदि नित्य कर्म तो परमात्मा के हैं और स्वाभाविक कर्म से जो कर्म किये जाते हैं, वह जीवात्मा के हैं। जीव ब्रह्म के भेद में युक्ति देते हैं।

शब्दविशेषात् ॥५॥

पदार्थ—(शब्द विशेषात्) मुख्य श्रुतियों के शब्द से भी।

भावार्थ—श्रुति के मुख्य शब्दों से भी विदित होता है कि जीव ब्रह्म से पृथक है। जैसे कहा गया है कि आत्मा के भीतर जो पुरुष है और स्पष्ट विद्यमान है कि जीवात्मा के भीतर सिवाय परमात्मा के दूसरा नहीं जा सकता। बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण से भी प्रकट किया है कि वह आत्मा से पृथक् और आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से जैसा कि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है; अतः जीवात्मा॰ के भीतर रहनेवाला पुरुष वही (मनोमय) कहानेवाले परमात्मा को विद्यमान करनेवाला है, जो जीवात्मा से पृथक् है। जीव ब्रह्म के भेद पर और युक्ति देते हैं।

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

पदार्थ—(स्मृतेः) स्मृति में (च) भी बतलाया गया है।

भावार्थ—स्मृति में भी जीव ब्रह्म का भेद प्रगट किया गया है। जैसा कि गीता में लिखा है कि ऐ अर्जुन! परमात्मा सब जीवों के भीतर हृदय में विराजमान हुआ है और सब जीवों को जो माया के यन्त्र पर सवार हैं, हरकत देते हैं ×।

॰—अयन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः ॥ शतपथ १० । ६ । ३ । २

× ईश्वरः सर्वं भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वं भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

प्रश्न—क्या जीव अपनी इच्छा से कर्म नहीं करता ? इस स्मृति से विदित होता है कि जिस ओर परमात्मा चक्र देता है उसी ओर जीव चेष्टा करता है।

उत्तर—भोग के सम्बन्ध में निश्चय जीव परतंत्र है; इस कारण जो कर्म जीव अपने भोग के कारण करता है, उसमें सफलता अथवा असफलता सब परमात्मा के नियम से होती है। जीव अपने पुरुषार्थ से वर्त्तमान भोग को बदल नहीं सकता; गीता का अर्थ उन्हीं कर्मों से है।

प्रश्न—इन श्रुतियों में उससे दूसरा देखने और सुनने-वाला कोई नहीं, जिसे स्पष्ट शब्दों में परमात्मा से पृथक् देखने व सुनने वाले का खण्डन किया गया है और गीता * में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि सब क्षेत्रों में तू मुझे क्षेत्र के जाननेवाला समझ।

उत्तर—महात्मा कृष्ण और श्रुति के उपदेश से उन मनुष्यों का खण्डन होता है कि जो कर्म को फलदाता मानते हैं; क्योंकि कर्म में देखने अथवा सुनने की शक्ति नहीं। भला जो कर्म देख-सुन नहीं सकता वह फल कैसे दे सकता है ?

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जीव और ब्रह्म का निश्चयपूर्वक भेद नहीं मानते; किन्तु उपाधि से कल्पित भेद विचार करते हैं। जैसे एक आकाश घट अथवा मठ उपाधि के कारण घटाकाश अर्थात् घट में वास करनेवाला आकाश व गृह में रहनेवाला आकाश कहलाता है।

उत्तर—यह शब्द सत्य नहीं; क्योंकि कोई नहीं कहता कि

---

* क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत।

घटाकाश लाओ, मठाकाश लाओ। जीव और ब्रह्म का भेद श्रुति अथवा व्याससूत्र से स्पष्ट प्रगट है।

प्रश्न—सर्वव्यापक ब्रह्म, जीव के आधे स्थान पर जो बहुत छोटा है, किस प्रकार रह सकता है; इस कारण जीव ही का उपदेश ज्ञात होता है?

उत्तर—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चनेतिचेन्ननिचाय्यत्वादेवंव्योमवच्च ॥७॥

पदार्थ—(अर्भकौकस्त्वात्) छोटी नाड़ी व स्थान होने से (तत्) जीव का (व्यपदेशः) कथन है व उपदेश है (न) नहीं (इति चेत्) यदि ऐसी शंका हो (न) कोई दोष नहीं (निचाय्यत्वात्) देखने के स्थान होने से (एवम्) भी (व्योमवत्) आकाश की भाँति (च) भी।

भावार्थ—उस स्थान पर गीता का अर्थ ब्रह्म ही से है, जीव से नहीं; क्योंकि ब्रह्म के दर्शन की जगह हृदय स्थान है। जैसे—आकाश सर्वव्यापक है; परन्तु छोटी सी गोली में भी है; क्योंकि सर्व-व्यापक है। इस कारण वह प्रत्येक वस्तु के भीतर कहा जा सकता है। सूक्ष्म होने से जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सब पृथ्वी पर पड़ता है; परन्तु देखने के लिये प्रतिबिम्ब दर्पण व स्वच्छ जल ही लेना पड़ता है और जब सूर्य्यग्रहण होता है, तो मनुष्य सूर्य का प्रतिबिम्ब देखने के लिये एक पात्र में जल भरकर देखते हैं; ऐसे ही ब्रह्म सर्व-व्यापक है; परन्तु उसका दर्शन हृदयाकाश में ही हो सकता है।

प्रश्न—यदि प्रत्येक मन में ब्रह्म है, तो जितने दुःख-सुख हैं, वह ब्रह्म को भी होंगे ; क्योंकि ब्रह्म से उनका संयोग होगा।

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्नवैशेष्यात् ॥८॥

पदार्थ—(सम्भोगप्राप्तिः) सुख-दुःख भोग की प्राप्ति (इति चेत्) यदि ऐसा मानो (न) नहीं (वैशेष्यात्) ब्रह्म ; परन्तु विशेषता उपार्जन से।

भावार्थ—चूँकि स्थूल वस्तु के गुण सूक्ष्म वस्तु (पदार्थ) में नहीं जा सकते हैं और मन आदि ब्रह्म से स्थूल हैं ; इस कारण इनमें रहनेवाले सुख-दुःख ब्रह्म को नहीं हो सकते ; क्योंकि सूक्ष्म के गुण स्थूल में जा सकते हैं।

प्रश्न—क्या जीवात्मा मन से स्थूल है, जो दुःख व सुख भोगता है ?

उत्तर—जीवात्मा भी मन से सूक्ष्म है। उसके भीतर भी सुख-दुःख प्रवेश नहीं हो सकते ; परन्तु वह अपनी अल्पज्ञता से मन को अपना अनुभव कर लेता है। इस कारण मन के गुणों को अपने में अनुभव करता है। जिस प्रकार गृह जलने से मनुष्य दुःख मान लेता है, वास्तविक उसको दुःख नहीं हुआ।

प्रश्न—जबकि जीव और ब्रह्म दोनों शरीर में रहते हैं, तो दोनों को दुःख-सुख होना चाहिये।

उत्तर—दुःख-सुख मिथ्या ज्ञान की सन्तान है ; इस कारण सर्वज्ञ ब्रह्म को तो मिथ्या ज्ञान हो नहीं सकता, कारण उसको सुख-दुःख भी नहीं हो सकते। अल्पज्ञ जीवात्मा को मिथ्या ज्ञान होता है, उसको सुख-दुःख भी होता है। संसार में देखा जाता है

कि कोई वस्तु सुख-दुःख देनेवाली नहीं। जिस वस्तु का ठीक प्रयोग होगा, उससे सुख होगा और जिसका उल्टा प्रयोग होगा, उससे दुःख होगा। सत्य, ठीक और उल्टा प्रयोग जीव करता है; ब्रह्म नहीं।

प्रश्न—यदि मिथ्या ज्ञान से सुख-दुःख होता है, तो जीवात्मा में क्या मिथ्या ज्ञान होता है ?

उत्तर—जीवात्मा अपनी मूर्खता से शरीर, प्राण और मन के धर्म को अपना समझकर दुःखी होता है। उदाहरण—हम भूख-प्यास को दुःख मानते हैं; क्या यह जीवात्मा के धर्म हैं ? उत्तर मिलता है—नहीं; क्योंकि यह प्राणों का धर्म है। ऐसे ही प्रसन्नता और शोक भी मन के धर्म हैं। बुढ़ापा दुर्बलता और मृत्यु भी शरीर के धर्म हैं; क्योंकि मूर्खता से हम इनको अपना धर्म समझा करते हैं; इस कारण हमको दुःख होता है और ब्रह्म सर्वज्ञ होने से इस मिथ्या ज्ञान को नहीं प्राप्त करता है; इस कारण दुःख-सुख भोग नहीं सकता है ?

प्रश्न—कठोपनिषद् * में लिखा है—जिसका ब्रह्म (ज्ञान) और क्षेत्र (बल) दोनों भात (पके हुए चावल) होते हैं और मृत्यु उसकी चटनी है—यहाँ कौन लेना चाहिये ब्रह्म अग्नि या जीव अग्नि ?

उत्तर—

अत्ताचराचर ग्रहणात् ॥९॥

पदार्थ—(अत्ता) परमात्मा का नाम खाने वाला है

---

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेदयत्र सः ॥
कठो० १। २। २४

(चराचर ग्रहणात्) चेतन और जड़ व स्थावर व जंगम जगत् को ग्रहण करने से।

भावार्थ—इस स्थान पर आत्मा अर्थात् खानेवाला परमात्मा का ही नाम है; क्योंकि वह जगत् को अपने भीतर ग्रहण करता अर्थात् प्रलय करता है।

प्रश्न—श्रुतियों में तो अग्नि को भक्षण करनेवाला कहा है; इस कारण इस जगह अग्नि अर्थ करना चाहिये; क्योंकि परमात्मा के लिये तो श्रुति ने कहा है कि वह न खाता हुआ देखता है और जीव को खाता हुआ देखता है। जीव को लेना उचित है, क्योंकि श्रुति ने बतलाया है कि संसार के फलों को जीवात्मा भोगता है।

उत्तर—जीव और अग्नि सबको भक्षण नहीं करते; क्योंकि जीव सान्त होने से सबको नहीं खा सकता और न अग्नि अपने से सूक्ष्म वायु आदि द्रव्यों को खा सकती है; इस कारण सबको नाश करनेवाला परमात्मा ही ऊपर की कठोपनिषद् की श्रुति में लेना चाहिये।

प्रश्न—क्या अग्नि से कोई सूक्ष्म भूत भी है? सब मनुष्य तो आकाश को छोड़कर शेष सबसे सूक्ष्म अग्नि को मानते हैं; क्योंकि इसमें बोझ नहीं?

उत्तर—यह उचित नहीं; क्योंकि अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण हैं और वायु में केवल स्पर्श गुण है। इस कारण वायु अग्नि से सूक्ष्म है; परन्तु बोझ पृथ्वी के आकर्षण से होता है। वायु पर पृथ्वी का प्रभाव पड़ता है और अग्नि पर रूप विरुद्ध होने से असर नहीं पड़ता। इस कारण वायु में बोझ ज्ञात होता है; अग्नि में नहीं।

प्रश्न—जबकि अग्नि में गर्मी है, वह वायु में प्रविष्ट होकर वायु को गर्म कर देती है और यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि सूक्ष्म पदार्थ के गुण स्थूल में आते हैं और सूक्ष्म के गुण स्थूल में नहीं आते; निदान वायु से अग्नि सूक्ष्म है।

उत्तर—वायु में अग्नि का गुण नहीं आता; किन्तु वह ले जानेवाली होने से जब पृथ्वी और अग्नि के परमाणुओं को ले जाती है, हमें शीत और उष्ण ज्ञात होती है; अतः अग्नि जल से स्थूल नहीं है।

प्रश्न—श्रुति में तो केवल ब्रह्म क्षेत्र है, इसको भात अर्थात् भोजन बताया है। इससे चराचर का ग्रहण किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—मृत्यु को चटनी बतलाने से ब्राह्मण और क्षत्रिय केवल उपलक्षण हैं और अर्थ कुल विकारवालों से है।

प्रश्न—पुनः श्रुतियों में विरोध नहीं आयेगा। एक श्रुति तो कहती है कि वह नहीं खाता, केवल देखता है; दूसरी कहती है कि वह खाता है?

उत्तर—न खाने का तात्पर्य यह कि वह कर्मफल अर्थात् सुख-दुःख नहीं भोगता; परन्तु जगत् के प्रलय करने का उससे खण्डन नहीं किया।

प्रश्न—इस स्थान पर परमात्मा लेने में क्या युक्ति है?

उत्तर—

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

पदार्थ—(प्रकरणात्) प्रकरण से (च) भी।

भावार्थ—इस श्रुति के विषय से भी परमात्मा का ही अर्थ विद्यमान होता है; क्योंकि बतलाया है कि उसको कौन जान

सकता है ; क्योंकि कठिनता से जानने योग्य ब्रह्म ही है। अग्नि तो प्रत्यक्ष है, इस कारण विषय से परमात्मा ही नाश करनेवाला ज्ञात होता है।

प्रश्न—क्या जीव कठिनता से नहीं जाना जाता ; क्योंकि जिस प्रकार परमात्मा की सत्ता में लाखों मनुष्यों को शङ्का है, उसी प्रकार जीव की सत्ता में भी तो शङ्का है ?

उत्तर—हम पहिले ही बता चुके हैं कि जीव सबका ग्रहण नहीं कर सकता ; दूसरे बुद्धिमान मनुष्य सुषुप्ति अर्थात् स्वप्नावस्था और मृत्यु से जीव की सत्ता का ज्ञान कर सकते हैं ; इस कारण ब्रह्म ही लेना पड़ेगा।

प्रश्न—परमात्मा और जीवात्मा का दर्शन क्यों दुर्लभ है और अग्नि आदि का क्यों सरल है ?

उत्तर—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

पदार्थ—(गुहां प्रविष्टौ) गुहा अर्थात् गहरी गाढ़ागार में (आत्मानौ) जीवात्मा अथवा परमात्मा (हि) निश्चय (तत्) उस जीवात्मा के आनन्द (दर्शनात्) दर्शन करने से।

भावार्थ—अग्नि आदि भूत और जगत् के पदार्थ सब प्रत्यक्ष हैं। उनको जानने के कारण अधिक विचार की आवश्यकता नहीं, इसलिये उनको प्रत्येक मनुष्य जान सकता है ; परन्तु जीवात्मा और परमात्मा को देखने के कारण जब तक अपने भीतर प्रवेश न हो, तब तक नहीं जान सकते ; इस कारण अपने भीतर

प्रवेश होना अति कठिन है। निदान, जीव और ब्रह्म का जानना दुर्लभ स्वीकृत किया गया है।

प्रश्न—अपने भीतर प्रवश होना तो किसी प्रकार नहीं वन सकता; क्योंकि उसमें आत्माश्रयी दोष है?

उत्तर—जिस प्रकार नेत्र में सुर्मा होता है; चक्षु जब तक बाहर की ओर देखता है, तब तक उसको अपने सुर्मा का दर्शन नहीं होता; जब सामने दर्पण रखकर चक्षु की वृत्ति बाहर जाने से रुककर भीतर की ओर लौटती है, तब नेत्र से नेत्र और सुर्मा का ज्ञान होता है; ऐसे ही जब आत्मा अपनी बुद्धिवृत्ति को शुद्ध मन के दर्पण से बाहर की ओर जानने मे रोककर अपने स्वरूप में आनन्द गुण को मालूम करता है; तब उसको परमात्मा और अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और तभी वह दुःखों से तर जाता है।

प्रश्न—देखनेवाला जीवात्मा, परमात्मा, बुद्धि अथवा मन है?

उत्तर—देखनेवाला जीवात्मा है; क्योंकि परमात्मा का ज्ञान स्वाभाविक है और देखने से तात्पर्य नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त होता है; जो परमात्मा में असम्भव है; बुद्धि से जानने का साधन नहीं; किन्तु ज्ञान है। इस कारण देखने वाला जीवात्मा ही लेना चाहिए।

प्रश्न—क्या परमात्मा में नैमित्तिक ज्ञान नहीं आ सकता?

उत्तर—जबकि परमात्मा पूर्व ही से सर्वज्ञ है, तो ज्ञान बढ़ ही कैसे सकता है। अल्पज्ञ जीवात्मा के ज्ञान में तो न्यूनता और अधिकता सम्भव है; परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में न्यूनता अथवा अधिकता नहीं हो सकती।

प्रश्न—ब्रह्म तो सर्वव्यापक है, उसके देखने के कारण एक स्थान का उद्देश्य क्यों किया; उसे जहाँ चाहें देख सकते हैं?

उत्तर—निश्चय ब्रह्म सर्व-व्यापक है; परन्तु देखने का समय एक ही स्थान पर मिलता है; क्योंकि जब स्थूल वस्तु में सूक्ष्म पदार्थ प्रवेश हुआ, तो स्थूल का ही दर्शन होता है। इस कारण बाहर जगत् में ब्रह्म प्रकृति में व्यापक है। प्रकृति ब्रह्म से स्थूल है; इस कारण प्रकृति का ही दर्शन होता है, ब्रह्म का नहीं; परन्तु जीवात्मा से ब्रह्म सूक्ष्म और प्रकृति स्थूल है; इस कारण जीव के भीतर केवल ब्रह्म ही रह सकता है; प्रकृति नहीं; अतः वहीं ब्रह्म शुद्ध का दर्शन होगा। दूसरी बात यह भी कि जहाँ दो हों, वहाँ सन्देहात्मक ज्ञान होता है; जहाँ अकेला ही हो, तो निश्चयात्मक ज्ञान होता है; इस कारण बाहर के कारण ब्रह्म का सन्देहात्मक ज्ञान होता है और भीतर देखनेवालों को निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है; इस कारण ब्रह्म का निश्चय होने की एक जगह है।

प्रश्न—तुम किस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा पृथक् दो मानते हो?

उत्तर—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पदार्थ—(विशेषणात्) विशेषता (च) से।

अर्थ—जीवात्मा को शरीर के रथ पर * सवार होकर स्थान पर पहुँचनेवाला बताया गया और परमात्मा को स्थान श्रुतियों ने बताया है; इस कारण स्पष्ट प्रगट है कि जीव और ब्रह्म पृथक्-पृथक् हैं। स्थान और बटोही दोनों एक नहीं हुआ करते। यह

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

विशेषता श्रुतियों में दिखाई गई है कि वह जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होता है। किसी मंत्र में जीवात्मा और परमात्मा को एक ही शरीर में रहनेवाला बतलाकर जीव को सुख-दुःख भोगनेवाला और परमात्मा को केवल देखनेवाला प्रगट किया गया है, किसी श्रुति में जीवात्मा को देखनेवाला प्रगट किया गया है। और किसी में जीवात्मा को देखनेवाला और ब्रह्म को दृश्य बतलाया गया है; इस भाँति के बहुत विशेषता के शब्द देने से जीव और ब्रह्म दोनों पृथक्-पृथक् सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—वेद ने बताया है कि जो मनुष्य सब भूतों को एक जानता है कि यह सर्वात्मा ही हो गया, उस एकता के देखनेवाले को शोक और मोह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? इससे स्पष्ट प्रगट है कि जीव ब्रह्म से बने हैं; वह ब्रह्म से पृथक् किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—यहाँ आत्मा से अर्थ जीवात्मा का है अर्थात् जो मनुष्य ऐसा जानता है कि सर्व योनियों में एक ही जीव रहते हैं, कोई बड़ा कोई छोटा नहीं, उसे भय और शोक नहीं होता। यह सब जानते हैं कि पवित्र जन्म माननेवालों का धर्म यह ही है।

प्रश्न—श्रुति ने जो यह बतलाया है कि चक्षु में जो पुरुष है, क्या वह जीवात्मा है वा आत्मा का आभास है?

उत्तर—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अन्तरः) परमात्मा है (उपपत्तेः) सिद्ध होने से।

भावार्थ—पुरुष निराकार है; इस कारण उसका आभास

अर्थात प्रतिबिम्ब तो हो नहीं सकता। इन्द्रियों का विलोना जिससे इन्द्रिय सहायता पाती है, वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रिय से बड़ा है; निदान पुरुष जो भीतर है वह परमात्मा है।

प्रश्न—पुरुष का आभास दिखाई देता है यह बात सबमें प्रसिद्ध है; इस कारण नेत्र में जो पुरुष है, वह आभासरूप मानना चाहिये व सूर्य जो चक्षु को देखता है, उसीका आभास लेना चाहिये, वह जीवात्मा हो सकता है; क्योंकि श्रुतियों ने बहुधा बताया है और एक स्थान पर बताने से परमात्मा नहीं हो सकता है?

उत्तर—उस स्थान पर जो गुण बताये गये हैं, वह सिवाय परमात्मा में नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ पर अमृतमय से मुबर्रा सब बुराइयों से पवित्र अथवा सर्व पापों को नाश करनेवाला आदि बतलाया है।

प्रश्न—आँख के भीतर क्यों बतलाया?

उत्तर—नेत्र ऐसा स्थान है, जो थोड़े से मैल से मलिन हो जाता है। वह सदैव निर्मल ही रहता है, अतएव जिस स्थान पर मैल होगा; वहाँ परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता।

प्रश्न—आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म का एक स्थान पर क्यों उपदेश किया?

उत्तर—

स्थानादि व्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पदार्थ—(स्थानादि) पृथ्वी आदि स्थानों का (व्यपदेशात्) उपदेश होने से या बतलाया जाने से (च) भी।

अर्थ—ब्रह्म के रहने के बहुत से स्थान बताये गये हैं।

यदि एक ही स्थान बताया जाता, तो दोष हो सकता। जब बड़ापन दिखाया और पृथ्वी, आकाश अथवा सूर्य आदि स्थानों में उसकी विद्यमानता का उपदेश किया, जब सूक्ष्मपन दिखाने लगे, तो नेत्र जैसी सूक्ष्म इन्द्रिय के भीतर बतलाया; इससे यह प्रगट किया गया है कि वह सबसे बड़ा है; इस कारण उसके राज्य से बाहर भागकर कोई नहीं जा सकता। किसी लोक में जाओ, उसे वहीं उपस्थित पाओगे। वह अति सूक्ष्म है कि मन और इन्द्रिय के भीतर विद्यमान है। उससे तुम किसी कर्म को छिपा नहीं सकते। संसार में तुम्हारे पापों का फल मिले न मिले; परन्तु परमात्मा महान् से महान् राजों-महाराजों के कर्मों का फल भी देता है। तोपों के गोले, सिरोही अथवा भुसुण्डी जहाज और विमान किसीको उस दण्ड से, जो वह प्रत्येक मनुष्य को बुरे कर्मों के कारण देता है, बचा नहीं सकते। उन श्रुतियों में उसकी उच्चता और सर्वज्ञता इस दर्जा तक दिखाई है कि जिस नेत्र से तुम चारों ओर देखते हो कि कोई हमारे कर्म को देख तो नहीं रहा है, वह उस चक्षु के भीतर भी विराजमान है।

प्रश्न—क्या अनन्त ब्रह्म के लिये किसी एक स्थान पर विराजमान बतलाना दोष नहीं है?

उत्तर—स्थान तो क्या, नाम रूप भी सर्वज्ञ और सर्वव्यापक के लिये दोष हो सकते हैं; यद्यपि उनसे ब्रह्म की उच्चता का वर्णन करके मनुष्यों को पापों से बचाते हैं।

प्रश्न—वहाँ ऐसे कौनसे चिह्न हैं; जिनसे ब्रह्म का अर्थ लिया जावे; जीव आदि न लिये जावे?

उत्तर—

सुख विशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

पदार्थ—(सुख विशिष्ट) मुख्य तो सुख वा सुख से परिपूर्ण (अभिधानात्) बतलाने से (एव) भी (च) जीव नहीं लेना उचित है।

अर्थ—सुख मुख्य तो ब्रह्म ही से प्राप्त होता है; क्योंकि प्रकृति परतंत्र होने से सुख से शून्य है; इस कारण ब्रह्म स्वतन्त्र और सुख से परिपूर्ण बतलाया गया है। जिस प्रकार कहा गया है कि जो आकाश की भाँति व्यापक है, सुखस्वरूप है; क्योंकि सान्त ज्ञान शक्तिवाला परतन्त्र हो सकता है; परन्तु अनन्त शक्तिवाला परतन्त्र नहीं हो सकता।

प्रश्न—जिस श्रुति में यह कहा है कि जो सर्वव्यापक है, वह ही सुख-स्वरूप ब्रह्म है; तो सर्वव्यापक आकाश भी सुख-स्वरूप होगा?

उत्तर—आकाश प्रथम तो सर्वव्यापक नहीं, क्योंकि परमाणु के भीतर नहीं रहता; दूसरे वह जड़ है और जड़ में ज्ञान और चेष्टा देने की शक्ति न होने से स्वतन्त्रता नहीं हो सकती; इस कारण सर्वव्यापक और सुख-स्वरूप ब्रह्म ही है।

प्रश्न—यदि आकाश सर्वव्यापक नहीं और परमाणु के भीतर विद्यमान् नहीं, तो उसका ब्रह्म के संग उदाहरण क्यों दिया?

उत्तर—आकाश विभु है और ब्रह्म भी विभु है; इस कारण ब्रह्म की उपमा दी है।

प्रश्न—विभु और सर्वव्यापक में क्या अन्तर होता है?

उत्तर—विभु का प्रत्येक मूर्तिमान द्रव्य से संग-संयोग होता है और उसके भीतर होना आवश्यक नहीं; परन्तु व्यापक के भीतर-

बाहर दोनों ओर होना आवश्यक है; इस कारण आकाश से ब्रह्म सूक्ष्म है; वह परमाणु के भीतर भी रह सकता है।

प्रश्न—यदि आकाश और ब्रह्म दोनों को सर्वव्यापक मान लिया जावे, तो क्या दोष होगा?

उत्तर—दोनों समान आकृति अर्थात् एकसे सूक्ष्म हो जावेंगे और एक दूसरे के बीच से जान पड़ेंगे; क्योंकि समान पदार्थ में समान पदार्थ का प्रवेश असम्भव है।

श्रुतोपनिषत्क गत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

पदार्थ—(श्रुत) गुरुवाक्य वा वेद-वाक्य से (उपनिषत्) उपनिषद् से (क) सुख (गति) प्राप्ति (अभिधानात्) बतलाये जाने से (च) भी।

भावार्थ—श्रुति ने अथवा दूसरे विद्वानों ने जो देवताओं के मार्ग से चलने का ढंग बतलाया है, उससे स्पष्ट प्रगट है कि नेत्र में रहनेवाले प्रकाश का जो वर्णन है, वह पुरुष ब्रह्म ही है।

प्रश्न—श्रुति ने कितने प्रकार की गति बतलाई है?

उत्तर—श्रुति में दो मार्ग ॐ हैं, जिनसे जीव चलते हैं—एक तो देवताओं का अर्थात् विद्वानों का मार्ग है, जिस पर चलकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं और दूसरे पितरों का मार्ग है, जिस पर चलनेवाले बार-बार जन्म लेते हैं, जैसा कि लिखा है कि वह उस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होता है; यह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है। देवताओं का मार्ग इस मार्ग पर चलनेवाला मुक्ति को प्राप्त होता है, जहाँ से इस कल्प में नहीं लौटता।

ॐ—प्रश्नोपनिषद् १।१० छान्दो० ४।१२।२।

प्रश्न—देवता किस प्रकार कर्म करते हैं और मनुष्यों में कितने प्रकार के मनुष्य हैं ?

उत्तर—देवता उस विद्वान् मनुष्य को कहते हैं, जो इस मनुष्यशरीर के उद्देश्य को समझता है। वह केवल बोता अर्थात् भविष्य के लिये भी कर्म करता है और वर्त्तमान के लिये कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता। मनुष्य उसका नाम है जो बोता और खाता है अर्थात् भविष्य के लिये भी कर्म करता है और अल्पज्ञता के कारण वर्तमान के लिये भी पुरुषार्थ करता है। तीसरे पशु उसे कहते हैं कि जो केवल खाता है अर्थात् विद्यमान जन्म के लिये ही कर्म करता है।

प्रश्न—क्या जो वर्त्तमान के लिये कर्म करते हैं, वह बुद्धिमान नहीं ; हमतो बड़े-बड़े विद्वानों को वर्तमान के लिये करते देखते हैं ?

उत्तर—उपनिषदों ने बतलाया है कि संसार में दो मार्ग हैं—एक श्रेय मार्ग, जिसका परिणाम मुक्ति है, परन्तु वर्त्तमान दशा अच्छी नहीं ; जिस प्रकार कृषक की अवस्था खेत बोने के समय होती है, शिर से पसीना आता है और धूप में बराबर कर्म किये जाता है। दूसरा प्रेम मार्ग है, जो इस समय तो अति उत्तम ज्ञात होता है ; परन्तु परिणाम में बार-बार जन्म लेता है। बुद्धिमान पुरुष तो फल को विचार करके श्रेय मार्ग पर चलता है, जैसे पशु किसीके अन्न पर मुँह मारते समय यह नहीं जानता कि अन्न का स्वामी डण्डा मारेगा, ऐसे ही मूर्ख नहीं जानते कि विषयों का अन्तिम परिणाम दुःख है।

प्रश्न—चक्षु के भीतर पुरुष ब्रह्म से पृथक जीव को मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—

अनवस्थितेरसम्भवाच्चनेतरः ॥ १७ ॥

पदार्थ—(अनवस्थितेः) व्यवस्था न होने के कारण (असम्भवात्) असम्भव होने से (च) भी (न) नहीं (इतरः) जीव आदि।

भावार्थ—सूर्य आदि का आभास और जीवात्मा आदि के नेत्र के भीतर रहनेवाला पुरुष होना असम्भव होने के कारण स्थिति नहीं होती; इस कारण नेत्र के भीतरवाला पुरुष ब्रह्म है।

प्रश्न—छायात्मा आभास चक्षु के भीतर जाता है, तो उसे असम्भव क्यों कहा ?

उत्तर—वह नित्य रहता है; इस कारण यह अर्थ असम्भव है; क्योंकि उस पुरुष को अमृत बताया है।

प्रश्न—जीवात्मा तो नित्य है, वही लेना उचित है ?

उत्तर—जीव को भी शरीर छोड़ना पड़ता है और मृत्यु शरीर और आत्मा के वियोग का नाम है; निदान उसमें आँख के संग नित्य सम्बन्ध मानना घट नहीं सकता; इस कारण ब्रह्म ही लेना उचित है। देवताओं को अमर अधिक समय तक रहनेवाला होने से कहा गया है, जीव यद्यपि मरता नहीं, परन्तु शरीर आदि को त्यागने से अमर नहीं कहला सकता। इस पर और युक्ति देते हैं।

अन्तर्य्याम्यधिदेवादिषुतद्धर्म व्यपदेशात् १८

पदार्थ—(अन्तर्यामी) भीतर रहकर प्रबन्ध करनेवाला (अधि) आधार (देव) देवता सूर्य चन्द्र (आदिषु)

आदि में (तत्) उसका (धर्म) गुण कर्म स्वभाव (व्यपदेशात्) बताया जाने से।

भावार्थ—अन्तर्यामी अथवा अन्तःकरण में रहकर प्रवन्ध करनेवाला और सबके भीतर रहनेवाला परमात्मा ही को बतलाया है; इसलिये आँख के भीतर जो पुरुष है, उससे भी आशय परमात्मा ही को लेना उचित है। परमात्मा के सिवाय भीतर रहकर और कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता; क्योंकि प्रथम तो सबसे सूक्ष्म और चेतन परमात्मा है। न तो उससे कोई अधिक सूक्ष्म है, जो सबके घट में रहनेवाला कहला सके और न कोई विशेष ज्ञानवाला अर्थात् सर्वज्ञ है, जो प्रबन्ध कर सके; इस कारण सबके घट-घट में रहकर प्रबन्ध करनेवाला परमात्मा ही है। दूसरे आकाश सूर्य के भीतर रहनेवाला उससे सूक्ष्म होना चाहिये; इस कारण आकाश से सूक्ष्म परमात्मा ही है। यद्यपि जीवात्मा भी आकाश से सूक्ष्म है, परन्तु वह आकाश के भीतर रहकर प्रबन्ध नहीं कर सकता; क्योंकि सान्त पदार्थ की शक्ति अनन्त नहीं हो सकती; इस कारण यह धर्म परमात्मा के ही हैं।

प्रश्न—किस प्रकार स्वीकार किया जावे कि सबके भीतर परमात्मा है?

उत्तर—जिस प्रकार, शरीर के भीतर जब जीव रहता है, तब तो सब कार्य प्रबन्ध से होते हैं अर्थात् जीव जिस शब्द को जिह्वा से निकालता है, वही शब्द जीभ से निकलता है, जिस ओर पाँव को चलाता है, उसी ओर चलता है; जब जीव नहीं होता, तो शरीर कोई कर्म नहीं करता; क्योंकि वह जड़ प्रकृति का बना हुआ है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति के लेते हुए सब अणु और वस्तुयें, जो

नियम के भीतर कर्म कर रही हैं, स्पष्ट ढंग पर प्रगट कर रही हैं कि उनको प्रबन्ध में रखनेवाला भी अनन्त ही होना चाहिये; अतः वह सबके भीतर रहकर कर्म करनेवाला अनन्त परमात्मा ही है।

प्रश्न—प्रत्येक पृथ्वी आदि गोले में एक एक देवता रहता है और वह ही उसका प्रबन्ध करता है। सबके भीतर एक ब्रह्म के मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—चेतन दो प्रकार के हैं—एक जीव, दूसरे ब्रह्म। वह देवता भी उनके भीतर दो ही होंगे। यदि दो मानोगे, तो वह आकाश के भीतर रह नहीं सकता। सान्त होने से यदि उस देवता को ब्रह्म मानोगे, तो पक्ष सिद्ध ही है।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि सूर्य्य और पृथ्वी के भीतर जो देवता है, वह न तो जीव है, न ब्रह्म; किन्तु उन्हीं भूतों का एक सूक्ष्म भाग है?

उत्तर—यदि उसका भाग मानो तो जड़ होने से प्रबन्ध करने का प्रवाह-दोष होवेगा। उस जड़ पृथ्वी को हरकत देने के कारण किसी सूक्ष्म की आवश्यकता है। यदि वह भी जड़ है, तो उसको हरकत देने के लिये उससे सूक्ष्म चाहिये; यदि वह भी है, तो उससे भी सूक्ष्म उसको हरकत देनेवाला होगा. जिसका कभी अन्त नहीं होगा। इस कारण अन्तर्यामी सर्वव्यापक भीतर रह-कर प्रबन्ध करनेवाला केवल परमात्मा ही है।

प्रश्न—सांख्य शास्त्र में जिस प्रकृति को बतलाया है, उसका यह धर्म है कि वह सबसे सूक्ष्म है?

उत्तर—

न चस्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (च) भी (स्मार्त्तम्) सांख्यस्मृति से बतलाया हुआ प्रधान अर्थात् प्रकृति (अतद्धर्माभिलापात्) उसका धर्म उसमें विद्यमान न होने व अन्तर्यामी होने के योग्य न होने से।

भावार्थ—यद्यपि सांख्यस्मृति से बताया हुआ प्रधान भी बहुत कुछ गुण रखता है अर्थात् प्रथम तो उसमें रूप आदि गुण नहीं, दूसरे वह सर्व स्थान सान्त और परमात्मा रूप होने से जानने योग्य नहीं; इस कारण वह सब विकारों का कर्ता और अन्तर्यामी हो सकता है। इस बात का खण्डन इस सूत्र में किया है कि प्रधान अर्थात् प्रकृति अन्तर्यामी नहीं; क्योंकि उन धर्मों की जो अन्तर्यामी के लिये आवश्यक ही है, अविद्यमानता पाई जाती है।

प्रश्न—वह कौनसा धर्म है, जो प्रधान में विद्यमान नहीं ?

उत्तर—यह नियम (क़ायदा) है कि देखनेवाला देखने-योग्य वस्तु से पृथक् ही नहीं; किन्तु स्वयम् देखनेयोग्य नहीं होता, सुननेवाला सुननेवाली वस्तु नहीं होती; मनन करनेवाला मनन करनेवाली वस्तु नहीं होती और जाननेवाला जानने योग्य वस्तु नहीं होती।

प्रश्न—यदि द्रष्टा (देखनेवाला) दृश्य (देखनेयोग्य) हो, तो क्या दोष होगा ?

उत्तर—यह नियम (क़ायदा) है कि देखनेवाला देखने योग्य वस्तु से पृथक् ही नहीं; किन्तु स्वयम् देखने योग्य नहीं होता; सुननेवाला सुननेवाला पदार्थ नहीं होता; मनन करने वाला मनन करने वाला पदार्थ नहीं होता और जाननेवाला जानने योग्य पदार्थ नहीं होता।

प्रश्न—यदि द्रष्टा (देखनेवाला) दृश्य (देखने योग्य) हो, तो क्या दोष होगा ?

उत्तर—जब देखनेवाला दृश्य अर्थात देखने योग्य पदार्थ स्वीकार किया जावे, तो उसको देखनेवाले को पृथक् स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि वह उस समय दृश्य है। यदि देखने योग्य वस्तु और स्वयम् ही देखनेवाला हो, तो आत्माश्रयो दोष है। जिस प्रकार अपने कन्धों पर चढ़ना असम्भव है, ऐसे ही अपने को देखना भी असम्भव है।

प्रश्न—हम तो नित्य देखते हैं कि हाथ में दर्पण लेकर नेत्र नेत्र को देखता है ?

उत्तर—चक्षु चक्षु को नहीं देखता; किन्तु नेत्र के आभास को देखता है। वह आभास चक्षु से भिन्न वस्तु है; क्योंकि दूसरी जगह रहता है।

प्रश्न—हम तो श्रुतियों में सुनते हैं, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा † ही देखने योग्य है और सुनने योग्य है आदि-आदि, तो क्या यह अशुद्ध है ?

उत्तर—याज्ञवल्क्यजी का आशय यह है कि बुद्धि से आत्म-विचार ही मनुष्य का कर्त्तव्य है अथवा आत्मा के आभास को ही देख सकता है, जैसे चक्षु चक्षु के आभास को देखता है। उपचार से आत्मा के गुणों व आभास के देखने का नाम आत्मा का देखना स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि याज्ञवल्क्य का अर्थ आत्मा का आभास देखने से है ?

---

† आत्मावारे दृष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः।

बृहदारण्यक

उत्तर—क्योंकि दूसरी * श्रुति में लिखा है कि दृष्टि (नजर) देखनेवालों को नहीं देखती अथवा देख सकती। कोई भी गुण अपने गुणी को नहीं जान सकता; इसलिये कारण कार्य्य से पृथक्-पृथक् अन्तर्यामी हो सकता है, जो परमात्मा है।

प्रश्न—जीव तो कारण कार्य्य से पृथक् है, वह क्यों नहीं अन्तर्यामी हो सकता?

उत्तर—

शारीरश्चयोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते ॥२०॥

पदार्थ—(शारीरश्च) जीवात्मा अन्तर्यामी नहीं (उभये) दोनों में (अपि) भी (हि) निश्चय करके (भेदेन) भेद करके (एनम्) परमात्मा को (अभिधीयते) पढ़ा है।

भावार्थ—जीवात्मा को भी अन्तर्यामी नहीं कह सकते; क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा दोनों में परमात्मा को जीवात्मा का अन्तर्यामी श्रुतियों ने बतलाया है। जब जीव ब्रह्म का भेद करके एक को अन्तर्यामी दूसरे को उसके नियम के अन्दर रहनेवाला सिद्ध किया है, तो वह किस प्रकार अन्तर्यामी हो सकता है? यद्यपि जीवात्मा के लिये द्रष्टा (देखनेवाले) कर्म जो परमात्मा में बतलाये हैं, सम्भव हो सकते हैं; क्योंकि वह भी चेतन (ज्ञानवाला है); परन्तु सान्त होने से वह सूक्ष्म आदि का अन्तर्यामी नहीं हो सकता और न अपना अन्तर्यामी हो सकता है; निदान सबका अन्तर्यामी परमात्मा ही है।

---

* न च दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः। बृ. ३ ब्रा मं. ४।

प्रश्न—क्या इस शरीर में दो देखनेवाले हैं—एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा? यदि कहो कि दोनों के होने में क्या दोष है, तो उस श्रुति से विरोध है, जो × कहती है कि उससे दूसरा कोई देखनेवाला नहीं, उसके अतिरिक्त कोई सुनने वाला नहीं और उससे पृथक् कोई मनन करनेवाला नहीं। यहाँ केवल शब्दों में इस बात का खण्डन किया गया है कि वह देखनेवाला नहीं है।

उत्तर—वहाँ देखने व सुनने से तात्पर्य सबके देखने व सुनने से है कि सर्वज्ञ अर्थात् सारे जगत् को देखनेवाला, सबकी बातें जाननेवाला, सबके मन के भेद को समझनेवाला सिवाय परमात्मा के दूसरा नहीं।

प्रश्न—शंकराचार्य्य ने यहाँ दोनों शाखाओं का अर्थात् माध्यान्दिनी और कण्व शाखावाले इस पाठ को भेद से पढ़ते हैं; ऐसा अर्थ किया है?

उत्तर—इस अर्थ में भी तो वह श्रुति लेनी पड़ती है, जिसमें जीव को अन्तर्यामी परमात्मा बतलाया है; परन्तु दोनों शाखावाले यद्यपि पृथक्-पृथक् पाठ इस श्रुति का करते हैं; परन्तु इसमें भी जीव का अन्तर्यामी परमात्मा बना का बना ही रहता है; निदान दोष कोई नहीं आता।

प्रश्न—शंकराचार्य्य ने इस स्थान-भेद को उपाधिकृत बतलाया है, जैसे—घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश?

उत्तर—घटाकाश के भीतर महदाकाश व्यापक नहीं होता और न वह उसका अन्तर्यामी ही हो सकता है; इस कारण शंकराचार्य्यजी का प्रयोजन जीव और ईश्वर का भेद तो उपाधि

× अदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतःश्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातोविज्ञाता।

से है; क्योंकि अविद्योपाधि अर्थात् कार्यशरीर से जीव और कारण शरीर से ईश्वर हो सकता है; परन्तु उपाधि-भेद से अन्तर्यामी होना असम्भव नहीं हो सकता।

प्रश्न—परा और अपरा विद्या में परा का यह लक्षण है कि जिससे उस अक्षर का अर्थात् नाश से रहित का ज्ञान हो † और उसके लक्षण बतलाए कि जो देखने में नहीं आता, जो पकड़ा नहीं जाता, जिसका गोत्र अथवा वर्ण नहीं, जिसके कान और आँख नहीं, जो हाथ-पाँव से रहित और सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, नित्य, सूक्ष्म और नाशरहित है, उस भूतों के कारण को, जो मनुष्य जानते हैं। अब यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हुई कि यह भूतों का कारण प्रकृति, जीवात्मा वा परमात्मा है?

उत्तर—

अदृश्यत्वादि गुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

पदार्थ—(अदृश्यत्वादिगुणकः) न देखने योग्य गुणोंवाला परमात्मा ही है (धर्मोक्तेः) धर्म बताया जाने से।

भावार्थ—उसके धर्म और प्रकृति के धर्म बहुधा मिलते हैं; परन्तु भूतों का कारण परमात्मा ही है; क्योंकि सबके भीतर प्रकृति नहीं जा सकती और बहुधा प्रकृति का नाम नहीं। इस प्रकार के धर्म कहने से प्रतीत होता है कि प्रकृति ने जिन भूतों के कारण का वर्णन किया है, वह परमात्मा ही है।

प्रश्न—जबकि दृष्टान्त में उपादान कारण दिया है, तो उस

---

† परायया तदक्षरमधिगम्यते।

स्थान पर भी उपादान कारण अर्थात् प्रकृति को लेना उचित है, जैसे—प्रकृति में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, मनुष्य के शरीर से लोम उत्पन्न होते हैं, और मकड़ी से जाला उत्पन्न होता है ; ऐसे ही उस अक्षर अर्थात् नाशरहित से जगत् उत्पन्न होता है ?

उत्तर—तीनों दृष्टान्त उपादान कारण के नहीं हैं ; क्योंकि पृथ्वी के भीतर परमात्मा अन्तर्यामी विद्यमान होने से औषधि प्रबन्ध-क्रिया (हरकते-इन्तजामी) से उत्पन्न होती है। मनुष्य के शरीर के भीतर लोम भीतर से उत्पन्न होते हैं और मकड़ी के भीतर जाला भी हरकते-इन्तजामी और जीव की हरकत स्वाभाविक क्रिया से उत्पन्न होते हैं ; इस कारण जिस प्रकार इन स्थानों में आत्मा कारण है ; ऐसे ही आत्मा से सब भूत उत्पन्न होते हैं। यदि परमात्मा के धर्म सर्वज्ञ आदि न बतलाये होते, तो भी अनुमान से परमात्मा का ही ज्ञान होता है। जबकि वहाँ यह धर्म बतलाये गये हैं, जो सिवा परमात्मा के दूसरे में हो नहीं सकते, तो प्रकृति कैसे भूतों का कारण स्वीकृत हो सकती है ; मुख्यतया वेदान्त-विवाद के भीतर जहाँ कर्त्ता अर्थात् निमित्त कारण है।

प्रश्न—अक्षर शब्द प्रकृति और परमात्मा दोनों के लिये आ सकता है। दोनों सत् अर्थात् उत्पत्ति और नाश से रहित हैं, पुनः अक्षर से ब्रह्म का ग्रहण करने और प्रकृति न करने में क्या युक्ति है ; और ऊपर के दृष्टान्तों में यदि चेतन आत्मा मान भी लिया जावे, तो साफ़ ही शरीर उपादान कारण भी विद्यमान है ; केवल ब्रह्म को लेना और प्रकृति को न लेना किस प्रकार युक्त हो सकता है ?

उत्तर—हम प्रथम बता चुके हैं कि वेदान्त-शास्त्र निमित्त

कारण अर्थात् कर्ता का वाद करता है; इसलिये वेदान्त में कारण शब्दों से कर्ता अर्थात् ब्रह्म ही लेना उचित है।

प्रश्न—जबकि तीन के भीतर कारणत्व विद्यमान है, तो दूसरे क्यों न लिए जावें?

उत्तर—

विशेषण भेदव्यपदेशाभ्याञ्चनेतरौ ॥ २२ ॥

पदार्थ—(विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्) विशेषण अर्थात् पृथक् करनेवाले गुण और दोनों का भेद बतलाने से (न) नहीं (इतरौ) जीव और प्रकृति।

भावार्थ—श्रुति ने जहाँ कारण पर विवाद किया है, वहाँ पर ऐसे गुण वर्णन किये हैं, जो परमात्मा को दूसरों से पृथक् करते हैं और जीव-ब्रह्म का भेद भी श्रुतियों ने भली प्रकार प्रगट किया है। जड़, प्रकृति और ब्रह्म का भेद सर्वोपरि है; इस कारण जीव और प्रकृति वेदान्त में जगत् का कारण नहीं बतलाये जाते।

प्रश्न—वे कौनसे गुण हैं, जो जीव में नहीं पाये जाते?

उत्तर—ब्रह्म को जीव से पृथक् करने के कारण बताया है कि वह ब्रह्म दिव्य है अर्थात् प्रकाश और अमूर्त है; वह सबके भीतर और बाहर है और उत्पत्ति से रहित जो पुरुष है, उसके प्राण और मन नहीं और वह शुद्ध है। जीव सबके भीतर-बाहर नहीं हो सकता और मन और प्राणों के बिना कर्म नहीं कर सकता ऐसे ही और भी बहुत सी बातें हैं।

प्रश्न—किस प्रकार परमेश्वर भूतयोनि अर्थात् सब भूतों का कारण है?

उत्तर—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

भावार्थ—जहाँ उपनिषदों × ने अलङ्कार से ब्रह्म का वर्णन किया है, वहाँ बताया है कि अग्नि उसका मस्तक, चन्द्र और सूर्य्य उसके नेत्र, दिशायें कान, वेद उसकी वाणी, वायु उसके प्राण, सारा संसार उसका हृदय और पृथ्वी उसके पग हैं अथवा उन भूतों के भीतर रहनेवाला आत्मा है।

प्रश्न—इधर तो परमात्मा का मूर्ति से रहित बतलाया था, उधर उसका शरीर बतला दिया और उसके सब अङ्ग भी गिनवा दिये। क्या यह उपनिषदों में व्याघात दोष नहीं है?

उत्तर—मूर्ति का निषेध इसलिये किया है कि वह सान्त नहीं; क्योंकि सदैव सान्त रहती है। इस स्थान पर अङ्ग इस कारण वर्णन किये हैं कि जिससे विदित हो कि वह सर्वव्यापक है। कोई भूत उससे बड़ा तो क्या, उसके समान भी नहीं हो सकता; क्योंकि वह भूतों में व्यापक है और प्रत्येक भूत उसके एक अङ्ग के समान भी नहीं हैं।

प्रश्न—जो अदृश्य अर्थात् दिखाई पड़ने के अयोग्य गुणों आदि से विशिष्ट है, वह किस प्रकार भूतों का कारण हो सकता है? उसको आकृति और अङ्गोंवाला प्रगट करना किस प्रकार उचित हो सकता है?

उत्तर—इन सब श्रुतियों से सर्वभूतों को उत्पत्ति और नाश-

× अग्निर्मूर्धाचक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रेवाग्विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्यपद्भ्यां पृथिवी ह्येषसर्वभूतान्तरात्मा ॥

मुण्डक उ० २ मं० १ खं० ४ मं०।

वाला सिद्ध करके परमात्मा को सबके भीतर रहनेवाला बताया है, नकि उसकी आकृति और मूर्ति स्वीकार की गई है ; क्योंकि यदि भूतों को उसका शरीर स्वीकार किया जाता, तो वह उनका उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता ; क्योंकि कोई अपने शरीर को स्वयम् उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न—इन वाक्यों से ज्ञात होता है कि परमात्मा दो प्रकार का है—एक सगुण, दूसरा निर्गुण। जिन श्रुतियों में उसकी मूर्ति का वर्णन है अर्थात् जहाँ उसके पग शिर आदि बतलाए हैं ; वहाँ सगुण का वर्णन है ?

उत्तर—निर्गुण और सगुण दो प्रकार का परमात्मा नहीं ; किन्तु प्रत्येक पदार्थ में दोनों बातें विद्यमान हैं अर्थात् अपने गुणों से गुणी होने के कारण सगुण और दूसरी वस्तु के गुण न होने के कारण निर्गुण कहलाता है। परमात्मा भी अपने ज्ञान आदि गुणों के कारण सगुण और प्रकृति के जो सत-रज-तम गुण हैं उसके लिये निर्गुण कहाता है। यहाँ अलङ्कार केवल उसको सर्वव्यापक और जगतकर्ता प्रगट करने के कारण ही दिया है ; क्योंकि उसको सर्वजगत् में व्यापक बताया है। कहीं सारे जगत् को उसके एक पाद में दिखलाया है, ताकि मनुष्य उसको प्रकृति के समान व प्रकृति को उसका शरीर न मान लें।

प्रश्न—श्रुतियों में जो वैश्वानर आदि शब्द जगत् में उपासना प्रकरण में आये हैं, वह अग्नि के प्रगट करनेवाले हैं या जीवात्मा अथवा परमात्मा के ?

उत्तर—

वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात् ॥ २४ ॥

पदार्थ—(वैश्वानरः) परमात्मा का ही नाम है (साधारणशब्द विशेषात) ; क्योंकि साधारण (आम) शब्द से तो उसका अग्नि आदि अर्थ है ; यहाँ विशेष अर्थ दिये जाते हैं ।

भावार्थ—साधारण शब्दों में तो वैश्वानर अग्नि का नाम है। जो पेट में भोजन को पचाती है : उसको वैश्वानर भी कहते हैं। वहुत से स्थानों पर जीवात्मा का वर्णन करते हुए भी आचार्य्यों ने वैश्वानर नाम से जीव को उच्चारण किया है ; परन्तु वेदान्त शास्त्र में जहाँ उपासना प्रकरण में वैश्वानर शब्द आया है, वहाँ साधारण शब्द नहीं ; किन्तु मुख्य शब्द है ; इस कारण उसका अर्थ पेट की अग्नि वा जीवात्मा लेना उचित नहीं ; किन्तु परमात्मा ही लेना उचित है।

प्रश्न—क्या शीत से दुःखित मनुष्य के लिये अग्नि उपास्य नहीं ; क्योंकि अग्नि के संयोग से शीत नाश हो जाता है ?

उत्तर—यद्यपि शीत अग्नि से भी नाश हो जाता है ; परन्तु वह वस्त्र से भी दूर हो सकता है ; इस कारण उपासना प्रकरण में वैश्वानर शब्द केवल परमात्मा का ही नाम है।

प्रश्न—इस स्थान पर वैश्वानर शब्द में क्या विशेषता है ; जिसके कारण उसका अर्थ परमात्मा ही लिया है ?

उत्तर—अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा तीनों के लिये यह शब्द आता है ; परन्तु यहाँ यह दिखाया है कि उस आत्मा वैश्वानर का स्वरूप ही तेज अर्थात् अग्नि है। जब अग्नि उसका शिर बताया, तो वह अग्नि किस प्रकार हो सकती है ; क्योंकि अग्नि का शिर अग्नि नहीं हो सकती, न जीवात्मा के ही शिर को कहीं

अग्नि बताता है। इस विशेषता के वर्णन से जिस परमात्मा को अलङ्कार में दिखाते हुए अग्नि उसका शिर बताया है, वही परमात्मा उस शब्द के कथन से अर्थ है; क्योंकि उस जगह एक और भी विशेषता दिखलाई है। वह यह है—वहाँ प्रश्न है कौन हमारा आत्मा है और वह ब्रह्म का है। इस समय पर वैश्वानर शब्द के उत्तर में आने से भी यह ब्रह्म का ही लिङ्ग है। इस पर और युक्ति देते हैं।

स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

पदार्थ—(स्मर्यमानम्) स्मृति में विचार किया हुआ (अनुमानं स्यात्) अनुमान हो (इति) समाप्ति का शब्द।

भावार्थ—स्मृति में भी इस अनुमान के कारण समय दिया है जैसा कि एक स्मृति * में लेख है कि जिसका मुख है सूर्यलोक, ऊपर का आकाश जिसका मस्तक है, आकाश जिसकी नाभि है, पृथ्वी जिसके चरण हैं, ऐसा श्रुति में भी लिखित है। उस श्रुति और स्मृति के प्रमाणों का अनुमान होता है कि यही कथन करने का तात्पर्य वैश्वानर शब्द से ब्रह्म ही का है; आगे और शंकाओं को बतलाते हैं।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्चनेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

---

* यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खंनाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रम् तस्मैलोकात्मने नमः॥

पदार्थ—(शब्दादिभ्यः) शब्दादि हेतुओं से (अन्तः प्रतिष्ठानात्) भीतर उचित ढँग पर स्थिति होने से (न) नहीं (तथा) ऐसे (दृष्ट्युपदेशात्) दृष्टि अर्थात् नज़र देखने का उपदेश होने से (असम्भवात्) असम्भव होने से (पुरुषम्) पुरुष अर्थात् शरीर में रहनेवाला वा संसार में रहनेवाला (अपि) भी (च) और (एनम्) इसको (अधीयते) पढ़ते हैं।

भावार्थ—कुछ मनुष्यों के हृदय में जो इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न होती है कि वैश्वानर शब्द के अर्थ परमेश्वर से लेना सत्य नहीं, क्योंकि वह दूसरी वस्तु के लिये प्रगट किया गया है; यह शङ्का कि पुरुष तो भीतर व्यापक है, उससे अग्नि ही वैश्वानर शब्द का अर्थ लेना उचित है; उसके उत्तर में ऋषि कहते हैं कि यह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि वहाँ पर दृष्टि का उपदेश किया है। यदि उस स्थान पर अग्नि का अर्थ लिया जावे, तो दृष्टि असम्भव है। वह दिखलानेवाली तो है; परन्तु देखनेवाली नहीं; इस कारण अर्थ करने में दोष नहीं। ऐसे ही उसको पुरुष नाम से पढ़ा गया है, तो ब्रह्म का नाम समझना दोषयुक्त नहीं।

प्रश्न—जो अग्नि स्वतजादि शब्दों की विशेषता से ब्रह्म अर्थ किया है, यह सत्य नहीं; क्योंकि यह शब्द पेट की अग्नि के लिये भी आ सकते हैं।

उत्तर—यदि इस स्थान पर केवल यही विशेषता होती, तो सम्भव था कि दोनों अर्थ किये जाते; किंतु उस स्थान पर पुरुष पढ़ा गया है, जो स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का नाम है।

उपासना करनेवाला जीव है ; इस कारण जिसकी उपासना की जावे, वह पुरुष केवल ब्रह्म ही है ; निदान वैश्वानर शब्द से यह ही अर्थ लेना चाहिये। इसपर विचार करके परिणाम निकालते हैं।

अतएव न देवताभूतश्च ॥ २७ ॥

पदार्थ—(अतः) इसलिये (एव) भी (न) नहीं (देवता) अभिमानी देवता (भूतश्च) अग्नि परमाणु।

भावार्थ—इस कारण न तो अग्नि का अभिमानी देवता कोई है ; वैश्वानर शब्द से स्वीकार किया जा सकता है और नहीं अग्नि भूत कह सकते हैं ; किंतु स्पष्ट ढंग पर विषय के देखने से वैश्वानर शब्द से अर्थ परमात्मा ही लेना पड़ते हैं। युक्तियों से प्रथम देख चुके हैं कि केवल उष्ण और प्रकाशमान अग्नि का सूर्य से ऊपरवाला आकाश मस्तक हो सकता है ; न अग्नि का मुख अग्नि हो सकता है, न अग्नि के नेत्र सूर्य अथवा चन्द्र हो सकते हैं, न पृथ्वी उसके चरण हो सकती है ; निदान वैश्वानर शब्द के अर्थ ब्रह्म ही लेने विषय के अनुकूल उस स्थान पर उचित हो सकते हैं। इसपर जैमिनि आचार्य्य की सम्मति प्रकाश करते हैं।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पदार्थ—(साक्षात्) प्रत्यक्ष में (अपि) भी (अविरोधं) विरोध नहीं (जैमिनिः) व्यासजी के शिष्य जैमिनि आचार्य्य।

भावार्थ—उपासना प्रकरण में साक्षात् (बनजर जाहिर) ब्रह्म की उपासना लिखी है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं।

जो मनुष्य यह कहते हैं कि इस जगह प्रत्येक उपासना अर्थात् जैसे एक स्थान नियत करके चाँदमारी में निशानबाजी के सिखाने-वाले सिखलाते हैं; ऐसे ही अग्नि उसके अभिमानी देवता को प्रत्येक उपासना के लिये श्रुति ने कहा है; यह सत्य नहीं; किंतु जैमिनिजी कहते हैं कि वैश्वानर ब्रह्म ही का नाम है; उसमें किसी श्रुति से विरोध नहीं आता।

प्रश्न—क्या व्याकरण आदेश पर वैश्वानर नाम परमात्मा का हो सकता है?

उत्तर—"विश्वे नरा अस्येति वैश्वानरः" कुल संसार में जिसके नर हैं, इस उद्देश से सबका आत्मा होने से परमात्मा वैश्वानर कहा सकता है; क्योंकि ऐसा कोई जीव नहीं, जो परमात्मा के नियम से विरुद्ध है।

प्रश्न—बहुत से नास्तिक हैं, जो परमात्मा की आज्ञा तो क्या उसकी सत्ता से भी नकारी हैं।

उत्तर—ऐसा कोई मनुष्य नहीं, चाहे आस्तिक हो वा नास्तिक हो; जो अपने आपको परमात्मा के नियमों पर चला सके। परमात्मा ने नेत्र से देखने का नियम रक्खा है; कोई नास्तिक कर्ण से नहीं देख सकता; परमात्मा के नियमानुकूल पाप अथवा पुण्य का फल सुख-दुःख मिलते हैं; उसको कोई बलिष्ठ से बलिष्ठ नास्तिक भी तो उनसे नहीं बचा सकता; परमात्मा के नियम से मृत्यु आती है, उससे कोई नास्तिक बच नहीं सकता; इस कारण सब परमात्मा के ही नर हैं और वह वैश्वानर कहाता है। उस पर आचार्य की सम्मति दिखाते हैं।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

पदार्थ—(अभिव्यक्तेः) प्रगट के लिये (इति) यह सान्त स्थान (आश्मरथ्यः) आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।

भावार्थ—आश्मरथ्य आचार्य कहते हैं कि श्रुतियों ने जो अधिक स्थान पर ब्रह्म को एकदेशी अर्थात् सान्त बनाया है, वह केवल इजहार के कारण बतलाया है। जैसे—हृदय में आकाश इस कारण बतलाया है कि वह वहाँ देखा जा सकता है और स्थान मन के दर्पण के सम्बन्ध न होने से उसे देख नहीं सकते; जिस प्रकार एक कवि कहता है कि—

"हर वर्गे सब्ज वर होशियार।
दफ़्तरीस्त अज़ मारफ़ते किर्दगार॥"

अर्थात् संसार का प्रत्येक हरा पत्ता एक दफ़्तर है, जिससे परमात्मा का ज्ञान हो सकता है। श्रुतियों ने भी प्रत्येक वस्तु के भीतर ब्रह्म को विद्यमानता को दिखलाकर उन मनुष्यों के भूल को दूर किया है कि जो परमात्मा को सान्त मानकर चतुर्थ आकाश व सातवें आकाश व सोलहवें लोक में ले गये हैं। प्रत्येक वस्तु के भीतर ब्रह्म होने से जीवात्मा के भीतर भी ब्रह्म ही है; इस कारण भीतर रहनेवाले ब्रह्म की खोज संसार में करना मूर्खता है। उस मूर्खता को दूर करने के लिये श्रुतियों ने प्रत्येक स्थान पर ब्रह्म का वर्णन किया है; जिससे साधारण विद्वान् मनुष्य के भीतर से यह विचार दूर हो जावे कि परमात्मा के जानने के लिए किसी बाहर के साधन की आवश्यकता है, किन्तु दिखाया यह है कि परमात्मा विद्यमान है। उसके सम्बन्ध में बादरि आचार्य अर्थात् व्यासजी के पिता यह कहते हैं—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

पदार्थ—(अनुस्मृतेः) अनुस्मरण के लिये (बादरिः) पाराशर जी मानते हैं।

भावार्थ—पाराशरजी का मत है कि जिन श्रुतियों में परमात्मा को एक देश में बताया है, जैसे—हृदयाकाश में दश अंगुल व नेत्र के भीतर, यह सब अनुस्मृति अर्थात् परमात्मा की सूक्ष्मता के विचार के कारण कहा गया है; क्योंकि यदि परमात्मा के भीतर कोई मान होता, तो प्रगट किया जाता; परन्तु परमात्मा का सबसे बड़ा होने से उसका कोई मान नहीं। उसको लम्बाई, चौड़ाई, वजन आदि का मान नहीं हो सकता है। नेत्र और मन के अन्दर बतलाने से उसकी सूक्ष्मता और ब्रह्माण्ड से बड़ा बतलाने से उसके व्यापक होने का वर्णन किया है। उस पर जैमिनि आचार्य कहते हैं।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥३१॥

पदार्थ—(सम्पत्तेः) अज़मत व ऐश्वर्य कारण (इति) यह (जैमिनिः) जैमिनिजी मानते हैं (तथा) ऐसा ही (हि) निश्चय करके (दर्शयति) दिखलाते हैं।

भावार्थ—जैमिनि आचार्य का इस विषय पर कि श्रुतियों ने परमात्मा को एक देश में शान्त क्यों बताया है, यह विचार है कि जिन वस्तुओं में परमात्मा को बतलाया है, उनसे परमात्मा का ऐश्वर्य प्रगट किया है अर्थात् जितने पदार्थ परमात्मा ने रचे हैं; प्रत्येक के भीतर किसी न किसी स्थान पर परमात्मा को बतलाकर सब वस्तुओं के समूह को परमात्मा का ऐश्वर्य अर्थात सम्पत्ति प्रकाश किया है। जैसे कोई कहे कि

श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या के राजा थे; परन्तु बताये काशी और पटने के राजा थे; इस प्रकार जितने नगरों के वह राजा थे पृथक्-पृथक् स्थान पर प्रगट कर दे। यद्यपि पृथक्-पृथक् देखने से उसके राज का एक-एक नगर में होना प्रगट होगा, परन्तु सब स्थानों के संयोग से सब स्थान पर उनकी उपस्थिति का वर्णन हो जाता है।

आमनन्तिचैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

पदार्थ—(आमनन्ति) उपनिपदों में विचार करते हैं (च) भी (एनम्) इस विषय को (अस्मिन्) सम्पत्ति के विचार में।

भावार्थ—परमात्मा की सम्पति अर्थात् राज्य को दिखलाने के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् × में भी ऐसा ही कथन है। जो यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा है अर्थात् जो अनन्त सत् है, सूक्ष्म आत्मा वह अविमुक्त में स्थित है। पुनः प्रश्न हुआ कि वह अविमुक्त किसमें स्थित है। वरणा और नासी के बीच में स्थित है और वह वरण और नासी कहाँ हैं, जिसका उत्तर कि जहाँ नासिका अर्थात् नाक और भौओं का संयोग है। इन सब बातों में जो इस पाद में प्रगट की हैं, जिनसे परमात्मा को अनेक स्थानों में व्यापक बतलाकर उसको सर्वव्यापक सिद्ध किया है, जिसमें जीव-ब्रह्म को भली प्रकार से प्रकट किया है। जो मनुष्य प्रथम दोनों पादों को ध्यान से पढ़ लेते हैं; उनके हृदय में किस प्रकार विश्वास हो सकता है कि जीव-ब्रह्म में जो मनुष्य उपाधि से भेद बतलाते हैं, उनके यहाँ सिद्ध करना

× य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च॥

उचित कि घटाकाश के भीतर महदाकाश व्यापक है; क्योंकि श्रुति ने तो जीव के भीतर ब्रह्म को व्यापक मानकर जीव को शरीर और परमात्मा को उस शरीर का आत्मा बताया है; जिन मनुष्यों को वेदान्त के जानने का अभिमान है और वह किसी युक्ति से जीव-ब्रह्म का भेद दूर करने की इच्छा रखते हैं, उनको कोई ऐसी वस्तु खोजकर लेनी उचित है, जो उपाधि से अपने भीतर प्रवेश हो जावे। संसार में तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जो अपने भीतर प्रवेश हो सके; क्योंकि उसमें आत्माश्रयी दोष है; परन्तु वेदान्तियों के सिद्धान्त विपत्ति जाननेवाले मायावादियों की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रबल है। उनको संसार में ऐसी वस्तु की कल्पना करनी चाहिए, जो अपने भीतर स्वयम् रह सके। इस समय तक बहुत से वेदान्त के ग्रन्थ हैं; परन्तु किसी ग्रन्थ में ऐसी वस्तु प्रतीत नहीं हुई, जो अपने भीतर उपाधि से स्वयम् प्रवेश हो सके, जबकि व्यास मुनि और उपनिषद् बड़े जोर से ब्रह्म और जीव का स्वरूप बतला रहे हैं और जीवात्मा को विज्ञानात्मा इस कारण कहा है कि वह नैमित्तिक ज्ञान और ज्ञान-प्राप्ति रखता है और परमात्मा में नैमित्तिक ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि उसके सर्वज्ञ होने से कोई वस्तु उसके ज्ञान से बची हुई नहीं, जिसका वह ज्ञान प्राप्त करे। जीवात्मा के अल्पज्ञ होने से उसके ज्ञान में सदैव उन्नति हो सकती है; इस कारण उसको विज्ञानात्मा शङ्कराचार्य ने वर्णन किया है। अब इस पाद को समाप्त करते हैं।

वेदान्त दर्शन

तृतीय पाद

द्योम्नाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

पदार्थ—(द्योम्नादि) देवलोक और भूलोक आदि का (आयतनम्) रहने का स्थान परमात्मा है (स्वशब्दात्) आत्मा शब्द होने से।

भावार्थ—जिन श्रुतियों में देवलोक, भूलोक, अंतरिक्ष, मन और प्राण इन्द्रियों के भीतर माला के मनकों में सूत्र के समान ओत-प्रोत लिखित है, वहाँ परमात्मा ही उनके आधार हैं। जिस प्रकार आकाश गृह के भीतर रहनेवाली वस्तुओं के भीतर-बाहर प्रतीत होता है, ऐसे ही परमात्मा सब मनुष्यों के भीतर-बाहर है।

प्रश्न—जबकि वहाँ रहने का स्थान लिखित है और उसको अमृत का पुल बतलाया है, × इस कारण परमात्मा नहीं हो सकता; क्योंकि पुल सान्त होता है। इस कारण कोई दूसरी वस्तु लेनी चाहिये।

× अमृतस्यैषसेतुः। मुण्डकोपनिषद् २।५।२७

उत्तर—दूसरी कौनसी वस्तु उन सबका आधार है? यदि कहो प्रकृति, तो हो नहीं सकती; क्योंकि वहाँ आत्मा शब्द बतलाया है और यदि कहो जीवात्मा, तो वह भी नहीं हो सकता; क्योंकि सान्त होने से इतने बड़े मनुष्यों में जिनमें असंख्य जीव रहते हैं, अकेला कैसे रह सकता है। वहाँ लेख है कि उस एक को मैं जानूँ; इस कारण सबमें रहनेयोग्य एक आत्मा परमात्मा ही है, उसीको सबका उदाहरण कह सुनाते हैं।

प्रश्न—यदि जीव जाति को एक मानकर लिखा हो, जैसा कि साधारणतया जाति में अर्थात् जीव के कारण शब्द 'एक' का प्रयोग होता है, तो जीवात्मा सान्त भी है और उनमें रहने योग्य भी है?

उत्तर—क्योंकि जीव जाति को एक आत्मा शब्द से मनुष्य लोगे, तो जाननेवाला कौन रहेगा; इस कारण परमात्मा ही लेना उचित है और पुल की उपमा से सान्त होने के कारण नहीं; किन्तु पार करने के लिये दी है; इस कारण उपमा जिस पक्ष में दी जाती है, उसका वह ही अर्थ लेना चाहिये। इसके लिये और युक्ति देते हैं।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

पदार्थ—(मुक्तोपसृप्यम्) मुक्ति में उसका त्याग (व्यपदेशात्) बतलाया जाने से।

भावार्थ—प्रकृति उपासना के योग्य नहीं; क्योंकि मुक्ति में उसकी दूरी का उपदेश किया गया है। जब तक जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती; इसकारण

लोकों के रहने का स्थान उपासना के योग्य एक ब्रह्म ही को समझना चाहिये।

प्रश्न—मुक्ति में प्रकृति का त्याग क्यों बतलाया है ?

उत्तर—जीवात्मा अल्पज्ञ है और प्रकृति के कार्य्य असंख्य आकृतियें हैं, जिनको अल्पज्ञ जीवात्मा नहीं जानता। वह अल्पज्ञता से अपने को शरीर अर्थात् देह विचार करके किसी वस्तु को, जो शरीर के लिये उपयोगी समझी जाती है, अपने लिये उपयोगी विचार करके उसमें राग अर्थात् इच्छा उत्पन्न करता है और जिसको शरीर के कारण हानि समझता है, उसमें द्वेष अर्थात् घृणा करता है; क्योंकि वास्तविक उत्पत्ति वस्तु जीव के कारण हानि वा लाभदायक नहीं; इस कारण जीव का हानि वा लाभ समझना अविद्या है। अविद्या का कारण प्रकृति के कार्य्यों का सम्बन्ध है; इस कारण जब तक अविद्या रहेगी, तब तक मुक्ति हो नहीं सकती। इसलिये मुक्ति में प्रकृति की उपासना का त्याग आवश्यक है।

प्रश्न—मुक्ति में राग, द्वेष और कर्म शेष रहते हैं या नहीं ?

उत्तर—उपनिषद् में बतलाया है कि उस समय तक अन्तःकरण की गाँठ टूट जाती है, सब शंकायें नाश हो जाती हैं * और सब कर्म भी नाश हो जाते हैं; मुक्ति की अवस्था में जब परमात्मा का दर्शन करता है।

प्रश्न—क्या मुक्ति में कर्मों का नाश हो जाता है ? गीता में भी विद्यमान है कि किये हुए कर्म अवश्य भोगने पड़ेंगे।

उत्तर—जब तक जीवात्मा को सत्य ज्ञान और परमात्मा के दर्शन नहीं होते, तब तक तो किये हुए कर्म अवश्य भोगने पड़ते

* भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।

हैं; परन्तु जिस समय मुक्ति में अन्तःकरण की गाँठ, जिसमें पाप-पुण्य के संस्कार टूट जाते हैं, तो पाप व पुण्य भी उसी अन्तःकरण के संग ही नाश हो जाते हैं; क्योंकि प्रत्येक जीव का कर्म-सूची उसके मन के साथ रहता है।

प्रश्न—यदि पापों के नाश हो जाने का स्वीकार किया जावे, तो बहुत से मनुष्य पाप करने से भी नहीं डरेंगे?

उत्तर—श्रुति स्पष्ट शब्दों में कर्मों का नाश होना स्वीकार करती है और प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य दिवाला निकाल देता है, तो वह उस लेन-देन से भार-मुक्त हो जाता है; क्योंकि वह दोनों में अहंकार नहीं रखता—न लेने में न देने में। श्रुति भी कहती है कि जब सब इच्छायें, जो उसके मन में स्थापित हैं, छूट जाती हैं; उसके अतिरिक्त यह बार-बार जन्म लेनेवाला और मृत्युवाला जीव अमृत होता है। उस अवस्था में ब्रह्म के आनन्द को लेता है।

प्रश्न—क्योंकि सब देवलोक आदि का उपादान कारण प्रकृति है; इस कारण वही इन लोकों के रहने का स्थान हो सकता है, ऐसा अनुमान उचित है?

उत्तर—

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

पदार्थ—(न) नहीं (अनुमानम्) अनुमान (अतच्छब्दात्) वेद अथवा श्रुतियों की शिक्षा न होने से।

भावार्थ—वेद से यह बात प्रत्यक्ष है कि प्रकृति ब्रह्म के एक पाद में रहती है और यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु का आधार छोटा नहीं होता, वरन बड़ा होता है; इस कारण सबसे

बड़ा जो ब्रह्म है सबका आधार है। ऐसा कोई वेद-वाक्य नहीं जिसमें प्रकृति को आधार (स्थित रखनेवाला) बतलाया है और यह सिवाय परमात्मा के हो ही नहीं सकता। प्रकृति उन लोकों का आधार है, ऐसे प्रमाण आते हैं अर्थात् प्रकृति के सहारे यह लोक रहते हैं। जबकि वह एक ही जानने योग्य बतलाया है, वह सिवाय परमात्मा के हो ही नहीं सकता, तो अनुमान किस प्रकार कर सकते हैं; क्योंकि उसके लिये हेतु दृष्टान्त कोई नहीं मिलता। जबकि वहाँ सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला, सबका आधार बतलाया है, तो ज्ञान से रहित प्रकृति कैसे ले ली जा सकती है।

प्रश्न—क्या जीव नहीं हो सकता?

उत्तर—

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

पदार्थ—(प्राणभृत्) जीवात्मा (च) भी।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रकृति सर्वज्ञ न होने से सब जगत् के लोकों का निमित्त कारण वा रहने का स्थान नहीं हो सकती; ऐसे ही अल्पज्ञ जीवात्मा भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञानवाला है, परन्तु सान्त होने से उसका ज्ञान भी सान्त ही रहेगा, वह किसी दशा में सर्वज्ञ नहीं हो सकता; इस कारण जीवात्मा भी जगत् का उपादान कारण वा निमित्त कारण और आधार नहीं हो सकता। यह सब परमात्मा के ही कारण से है।

प्रश्न—क्या सान्त पदार्थ में अनन्त गुण नहीं आ सकते हैं? हम तो देखते हैं कि छोटे से बीज में एक बहुत बड़ा वृक्ष बनने की शक्ति रहती है।

उत्तर—इसकी उपमा नहीं मिलती है कि सान्त पदार्थ

में अनन्त गुण हो सकते हैं। बीज में वृक्ष बनने की शक्ति है; परन्तु बीज भी सान्त है और वृक्ष भी सान्त है।

प्रश्न—क्या परमात्मा सर्वशक्तिमान है? एक सान्त पदार्थ में अनन्त गुण नहीं रह सकते।

उत्तर—परमात्मा अपने अनादि नियमों को तोड़ नहीं सकता; क्योंकि वह सर्वज्ञ और स्वतन्त्र है। नियमों को वह उल्लंघन नहीं कर सकता, जो अल्पज्ञ अथवा असमर्थ हो। यदि कोई मनुष्य अल्पज्ञता से अशुद्ध नियम बनाता है, तो उसके हानि देखने पर बदल देता है अथवा जब कोइ असमर्थ होता है, तो अपने शुद्ध नियम भी बदल देता है; किन्तु परमात्मा के सब नियम अटल हैं और जीव अपने नियमों को बदला करता है।

प्रश्न—जब जीव उपाधि से रहित होकर ब्रह्म बन जावेगा, तब वह सर्वज्ञ हो जावेगा?

उत्तर—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

पदार्थ—(भेद) अनन्तर व पृथकता (व्यपदेशात्) बतलाये जाने से।

भावार्थ—जीव किसी अवस्था में सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि श्रुति ने जीव और ब्रह्म का भेद बतलाया है। जो मनुष्य जीव ब्रह्म का भेद उपाधि से मानते हैं, वे बहुत ही उलटे मार्ग पर चलते हैं; क्योंकि श्रुति ने बतलाया है कि जीव के भीतर ब्रह्म है, जिसको यह नहीं जानता। जबकि जीव के भीतर ब्रह्म विद्यमान है, ब्रह्म आत्मा जीव उसका फल शरीर; जिस प्रकार शरीर को

आत्मा मानना अविद्या है; ऐसे ही जीव को ब्रह्म वा ब्रह्म को जीव मानना महती अविद्या है।

प्रश्न—यदि जीव का भेद माना जावेगा, तो अद्वैत-सिद्धि आदि सब ग्रन्थ मिथ्या हो जावेंगे और वे श्रुतियाँ जो अभेद को बतलाती हैं असत्य हो जावेंगी?

उत्तर—श्रुतियाँ अभेद को बतलानेवाली अशुद्ध नहीं हो सकतीं; क्योंकि भेद के अर्थ दूरी के भी हैं। अभेद का अर्थ है—दूरी का न होना; क्योंकि परमात्मा से कोई वस्तु दूर नहीं। परमात्मा के कोई शरीर नहीं और न उसके कोई समान है; इसलिये वह अपने गुण-कर्म-स्वभाव में अद्वैत है। इस पर और युक्ति देते हैं।

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

पदार्थ—(प्रकरणात्) विषय से भी यह ही पाया जाता है।

भावार्थ—इस जगह प्रश्न यह है कि जिस एक के जानने से सबका ज्ञान हो जाये * परन्तु जीव और प्रकृति के जानने से सबका ज्ञान नहीं हो सकता; इस कारण न तो जीव लिया जा सकता है न प्रकृति।

प्रश्न—जिस प्रकार सुवर्ण के बने हुए सब आभूषणों का ज्ञान सुवर्ण के जानने से हो जाता है, ऐसे ही प्रकृति के जानने से सब जगत् के पदार्थों का ज्ञान हो जावेगा।

उत्तर—यहाँ पक्ष यह है कि कुल वस्तुओं का ज्ञान हो; परन्तु प्रकृति के जानने से कार्य्य (मालूल) वस्तुओं का ज्ञान तो हो

---

* यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। मुण्डक।

जावेगा ; परन्तु कारण अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान नहीं होगा। जिस प्रकार सुवर्ण के जानने से उसके कार्य्य का ज्ञान हो सकता है ; परन्तु बनानेवाला सुवर्णकार का ज्ञान नहीं ; निदान प्रकरणों से स्पष्ट सिद्ध है कि केवल ब्रह्म के जानने से ही ज्ञान होता है ; इस कारण ब्रह्म ही लेना उचित है।

प्रश्न—केवल ब्रह्म के जानने से सबका ज्ञान किस प्रकार हो जावेगा ?

उत्तर—इस शरीर में पाँच कोष हैं और आत्मा के भीतर ब्रह्म है। प्रकृति से ब्रह्म सूक्ष्म है ; इस कारण प्रकृति के भीतर ब्रह्म है और जीव से भी ब्रह्म सूक्ष्म है ; इस कारण जीव के भीतर ब्रह्म है। जैसे—किसी गृह के भीतर कोई वस्तु हो, तो उसके देखने के लिये जो जायगा, उसको प्रथम गृह का ज्ञान होगा ; पुनः भीतरी पदार्थ का। इस प्रकार ब्रह्म को जानने के लिये तीनों शरीर, पाँच कोष, जीवात्मादि सबसे गुजरना होगा। इस प्रकार सबका ज्ञान हो जावेगा। इस पर और युक्ति देते हैं।

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥ ७ ॥

पदार्थ—(स्थित्यदनाभ्याञ्च) भोगनेवाला और साक्षी होने से भी।

भावार्थ—जीव और ब्रह्म का भेद वेद-मन्त्रों में स्पष्टतापूर्वक दिखलाया है। एक को कर्मों का भोगनेवाला कहा है, दूसरे को भीतर रहते हुए फलरहित केवल साक्षी बतलाया है ; इससे स्पष्ट प्रगट है कि श्रुतियों ने जीव और ब्रह्म का भेद निश्चय करके देव-लोक, भूलोक आदि के संहारक ब्रह्म ही को लेना उचित है ; यह ही सब श्रुतियों का अर्थ है। आगे दूसरा विषय आरम्भ करते हैं।

भूमासम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(भूमा) परमात्मा है (सम्प्रसादात्) सारे जगत् में व्यापक होने से (अध्युपदेशात्) सबका आधार बतलाया जाने से ।

भावार्थ—परमात्मा का नाम भूमा है ; क्योंकि वह सारे जगत् में फैला हुआ अर्थात् व्यापक और सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है ।

प्रश्न— भूमा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहाँ न और को देखे, न और को सुने ; और न और को जाने, वह भूमा है ; क्योंकि परमात्मा के भीतर सब वस्तुयें हैं और वह सबके भीतर व्यापक है ; इस कारण जहाँ जाकर देखो, वहीं परमात्मा को विद्यमान पाओगे । कोई भी पर्वतों की उच्च से उच्च शिखर, अन्धकार से अन्धकार गार अथवा समुद्र की गहरी से गहरी तह, परमात्मा से शून्य नहीं मिलेगी ; कोई छोटे से छोटा जीव भी परमात्मा से शून्य नहीं ; इस कारण भूमा परमात्मा है और जिन श्रुतियों में भूमा की उपासना का उपदेश किया, उसका प्रयोजन परमात्मा ही की उपासना से है ।

प्रश्न—क्या जीव का नाम भूमा नहीं हो सकता ?

उत्तर—जीव अनन्त हैं ; इस कारण जीव एक शरीर में है, दूसरे में वह नहीं ; किन्तु दूसरा है । इसलिये जीव में भूमा के लक्षण नहीं पाये जाते ; इस कारण जीव अल्पज्ञ है ; क्योंकि अल्प है ।

प्रश्न—क्या प्राण भूमा नहीं कहला सकते ; क्योंकि वह बहुत हैं और सारे संसार में व्यापक हैं ?

उत्तर—क्योंकि बतलाया गया है कि आत्मा का जाननेवाला दुखों से तर जाता है और उस प्रकरण में भूमा की उपासना लिखी है; इस कारण परमात्मा ही भूमा है, प्राण नहीं। भूमा से अर्थ एक होकर सब जगह व्यापक होने वाला है; जाति से भूमा को व्यापक नहीं कह सकते।

प्रश्न—क्या प्राण भूमा नहीं; जबकि प्राणों के नियम जानने से मनुष्य तर जाता है अर्थात् जो मनुष्य प्राणायाम से मन को रोकता है, उसे सुख मिलता है और भूमा का लक्षण यह भी किया है कि भूमा में ही सुख है?

उत्तर—प्राणों के रोकने से सुख है, न कि प्राणों की चेष्टा से; इस कारण भूमा प्राणों से पृथक् है, जिसमें प्राणों को रोककर जिस जगह समाधि लगाते हैं, वहीं सुख मिलता है। सुखरूप परमात्मा है। भूमा में प्राणों का रोकना आनन्द का साधन हो सकता है; परन्तु प्राण आनन्दस्वरूप नहीं हैं। यदि प्राण आनन्द-स्वरूप होते, तो कोई प्राणी दुःख न पाता। इस पर और युक्ति देते हैं कि परमात्मा ही भूमा अर्थात् आनन्दस्वरूप है।

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

पदार्थ—(धर्मोपपत्तेः) धर्म पाये जाने से (च) भी।

भावार्थ—जो लक्षण भूमा का बतलाया गया है, वह केवल परमात्मा में ही घट सकता है, क्योंकि परमात्मा में नैमित्तिक ज्ञान का अभाव है अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति जीव को होती है, परमात्मा को नहीं होती और वहाँ बतलाया गया है कि जहाँ दूसरे को न देखे, न जाने, न सुने; अतः यह गुण परमात्मा में विद्यमान हैं।

प्राणों में बिलकुल ज्ञान की शून्यता है, जीवात्मा में स्वाभाविक ज्ञान और नैमित्तिक ज्ञान दोनों प्रकार का ज्ञान है; इस कारण न तो प्राणों में, न भूमा में, और न जीव ही में धर्म पाया जाता है; केवल परमात्मा में भीतरी ज्ञान के होने और प्राप्त ज्ञान न होने से भूमा का गुण पाया जाता है; इस कारण परमात्मा ही भूमा है। दूसरे, भूमा को आनन्दस्वरूप बतलाया गया है; जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं। इसकी प्रथम बहस हो चुकी है; क्योंकि वह परमात्मा की उपासना से आनन्द प्राप्त करता है। प्राण भी आनन्दस्वरूप नहीं; केवल परमात्मा ही आनन्दमय सिद्ध होते हैं; जिसकी बहस प्रथम पाद में कर चुके हैं; निदान भूमा परमात्मा ही हो सकता है।

प्रश्न—उपनिषदों में जहाँ बतलाया गया है कि 'अक्षर' अर्थात नाशरहित सबमें माला के मनकों में तागे की भाँति पिरोया हुआ है, उस 'अक्षर' से वहाँ क्या प्रयोजन है?

उत्तर—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

पदार्थ—(अक्षरम्) परमात्मा ही अक्षर है (अम्बरान्त धृतेः) पृथ्वी से आकाश पर्यन्त सबको धारण करनेवाला होने से।

भावार्थ—क्योंकि पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत को धारण किये हुए है और उसीके सहारे सब जगत् चल रहा है; इस कारण अक्षर से प्रयोजन यहाँ परमात्मा ही है।

प्रश्न—अक्षर नाम वर्णों (हरफ़ों) का है और वर्ण एक शब्द के अन्दर माला के मनके के समान विद्यमान हैं; इस कारण अक्षरों को ही उस स्थान पर मानना उचित है।

उत्तर—अक्षरों से ही शब्द बने हुए हैं अर्थात् शब्दरूपी जो माला है, उसके मनके अक्षर हैं; परन्तु वह पिरोये हुए किसमें हैं, यह सिद्ध नहीं होते; इस कारण अक्षरों का अर्थ उस स्थान पर अक्षर शब्दों से नहीं, किन्तु परमात्मा ही अक्षर शब्द से लेना उचित है; क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के भीतर व्यापक होने से जिस प्रकार सूत्र माला के मनकों को स्थिर रखता है, जिससे वह कंठ में अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं; ऐसे ही परमात्मा सब वस्तुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थित रखता है।

प्रश्न—पृथ्वी से आकाश पर्यन्त धारण करनेवाली प्रकृति भी है; इसमें ब्रह्म ही क्यों समझें?

उत्तर—

सा च प्रशासनात् ॥११॥

पदार्थ—(सा) वह सब लोगों की धारित्री (च) है (प्रशासनात्) नियम में चलाने से।

भावार्थ—यह सिद्ध हो चुका है कि प्रकृति नियमानुसार चलनेवाली तो हो सकती है, चलानेवाली नहीं हो सकती और अक्षर के लक्षण में यह भी बताया गया है कि ऐ गार्गी! इसी अक्षर के नियम में सूर्य अथवा चन्द्र स्थित हैं *। नियम में बाँधे रखना सृष्टि के स्वामी परमात्मा ही का कर्म है; ज्ञानरहित प्रकृति का कर्म नहीं और काम ही अल्पज्ञ जीव का कर्म है।

---

* एतस्यैकाक्षरस्यप्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः बृ० २। २८। ६।

प्रश्न—सूर्य और चन्द्र तो अपनी आकर्षण शक्ति से स्थित हैं, इसमें परमात्मा को क्या दख़ल है ?

उत्तर—यदि कोई मनुष्य घड़ी को चलता हुआ देखकर यह कहे कि घड़ी के पुरजे एक दूसरे के आकर्षण से चल रहे हैं, तो मूर्ख जन स्वीकार कर सकते हैं; परन्तु बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि यह पुर्जों के अन्दर नियम घड़ीसाज़ ने बनाया है और इसीके चाबी देने से कार्य चल रहा है। ऐसे ही यद्यपि उस समय सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी आदि आकर्षण शक्ति से घूम रहे हैं; परन्तु यह सब नियम परमात्मा ने ही चलाये हैं; इस कारण वही उनको चलानेवाला है। इसपर और युक्ति देते हैं कि इस स्थान पर ब्रह्म ही का नाम है।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

पदार्थ—(अन्यभाव) दूसरी सत्ता (व्यावृत्तेः) पृथक् की जाने से (च) भी।

भावार्थ—पृथ्वी से आकाश पर्यन्त धारण करने का गुण परमात्मा को दूसरी सत्ताओं से पृथक् करनेवाला है। ऐसी कोई सत्ता विद्यमान नहीं कि जो पृथ्वी से आकाश पर्यन्त व्यापक होकर उनको नियम में चला सके; इसकारण यह दोनों सूत्र परमात्मा को दूसरी सत्ताओं से पृथक् करके इस बात को सिद्ध करते हैं कि अक्षर ब्रह्म ही का नाम है। ब्रह्म से पृथक् कोई दूसरा पदार्थ इस स्थान पर 'अक्षर' नहीं समझा जाता है। यद्यपि दूसरे स्थानों पर अक्षर के और भी अर्थ हैं; परन्तु यहाँ केवल परमात्मा लेना उचित है।

प्रश्न—जबकि उपादान कारण के सहारे कार्य की सत्ता होती

है, यदि कारण न रहे, तो वह कार्य रह भी नहीं सकता; इस कारण दोनों सूत्रों में प्रकृति लेने में क्या दोष है?

उत्तर—श्रुति ने प्रकृति से उस सत्ता को पृथक् कर दिया है; क्योंकि बतलाया है कि ऐ गार्गी! वह अक्षर देखनेवालों से विचार किया हुआ और जाननेवालों से जाना हुआ नहीं है *। यह बातें प्रगट करती हैं कि अक्षर परमात्मा है। ऐसी दूसरी सत्ता नहीं, जिसको देखने, सुनने व विचार करने और जानने के कारण न देख, सुन व विचार कर सके, न जान सके।

प्रश्न—प्रश्नोपनिषद् में सत्य काम को उपदेश करते हुए, जो दो प्रकार से ब्रह्म बताया है एक अपर ब्रह्म, दूसरा परब्रह्म †। उसमें ओंकार के द्वारा ब्रह्म का ध्यान लिखा है। इसमें परब्रह्म निर्गुण परमात्मा से प्रयोजन है वा सगुण ब्रह्म से?

उत्तर—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् ॥ १३ ॥

पदार्थ—(ईक्षतिकर्म) ज्ञानानुकूल कर्म से (व्यपदेशात्) उपदेश होने से।

भावार्थ—इस स्थान में भी ज्ञानानुसार कर्म का उपदेश होने से परमात्मा ही लेना उचित है; क्योंकि ब्रह्म दो प्रकार का बतलाया है—एक शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद व ओंकार शब्द, दूसरे परमात्मा, जो ओंकार शब्द का अर्थ है। शब्द के अन्दर ज्ञान के अनुसार कर्म करने की सर्वशक्ति नहीं होती और वहाँ

---

* तद्वा एतदक्षरं गार्गी अदृष्टदृष्ट श्रुतं श्रोत्रं मंत्र विज्ञातं विज्ञात नान्यादतोऽस्ति। ३। ८। ११।

† एतद्वैसत्यकामपरञ्चापरञ्चब्रह्म। ५।२

ज्ञानानुसार करनेवाले का ध्यान बतलाया गया है; इस कारण ओंकार शब्द का जो अर्थ है, उसीका ध्यान करना उचित है।

प्रश्न—ध्यान तो साकार का हो सकता है, ओंकार का अर्थ निराकार है; इस कारण उसका ध्यान हो ही नहीं सकता। अतः यहाँ शब्द ब्रह्म अर्थात् ओंकार शब्द ही लेना उचित है; क्योंकि वह अकार, उकार और मकार तीनों अक्षरों से युक्त होने से साकार अर्थात् ध्यान करने के योग्य है।

उत्तर—यह पक्ष कि ध्यान साकार का होता है, उन मनुष्यों को हो सकता है कि जो ध्यान के लक्षण से अनभिज्ञ हैं; क्योंकि ध्यान का लक्षण महर्षि कपिल ने यह किया है कि जब मन विषयरहित हो जावे, उस अवस्था का नाम ध्यान है। साकार पदार्थ इन्द्रियों का विषय होता है; अतः जो विषय है, उसमें लगा हुआ मन विषय से पृथक् कैसे हो सकता है; निदान ध्यान निराकार का ही होता है।

प्रश्न—उसके अगले सूत्र में लिखा है कि या तो सबसे सूक्ष्म जानकर वा सबसे बड़ा विचारकर मन वश में आ जाता है।

उत्तर—तात्पर्य यह है कि परमात्मा महान से महान और सूक्ष्म से सूक्ष्म है; इस कारण यदि मन बड़े की ओर लगता है, तो उस ओर को लगावे; यदि मन सूक्ष्म की ओर चलता है, तो उस ओर चलावे। मन का स्वभाव है कि वह जिस पदार्थ के देखने को चाहता है, उसका अन्त अर्थात् सीमा जाने बिना नहीं लौटता और सीमा मालूम करने के पश्चात् ठहरता नहीं; इस कारण सान्त पदार्थों में मन स्थिर नहीं होता; क्योंकि उनकी सीमा जानकर चल देता है। केवल परमात्मा में ही मन स्थिर होता है; क्योंकि मन का स्वभाव है जानकर लौटना

और परमात्मा के गुण अनन्त हैं, जिसके कारण जब मन परमात्मा में लगता है, तो वह अन्त लेकर लौटता है और परमात्मा के गुण अनन्त होने से उसको अन्त आता नहीं, तिससे वह लौट सके ; इस कारण वहीं थककर रह जाता है। उस दशा का नाम विज्ञान है।

प्रश्न—यह नियम है कि मन अनुभूत ही को जानता है ; किन्तु दुःख-सुख आदि जो इन्द्रियों से अनुभव नहीं होते, उनको भी मन जानता है ?

उत्तर—सुख-दुःख का कारण बाहर इन्द्रियों से अनुभव करके मन उनको जान लेता है। जहाँ कारण हो ही नहीं, वहाँ मन कैसे जान सकता है। मन जाननेवाला नहीं ; किन्तु जानने का यन्त्र है और यह नियम हो कि साकार साकार को जान सके और निराकार निराकार को, तो साकार मन वा इन्द्रियाँ परमात्मा के ज्ञान का साधन न हों और नहीं निराकार जीवात्मा को साकार वस्तुओं का ज्ञान हो सके।

प्रश्न—ज्ञानानुकूल कर्म तो जीव भी करता है, तो उससे परमात्मा का लेना क्या आवश्यक है ; क्योंकि वह तो स्वाभाविक कर्म है।

उत्तर—जीव के अल्पज्ञ होने से उसका ज्ञानपूर्वक कर्म नहीं होता। यदि जीव के कर्म ज्ञान के अनुकूल होते, तो उसे कभी असफलता और दुःख प्राप्त ही न होता। जीव में ज्ञान और अज्ञान दोनों मिले रहते हैं, केवल ज्ञानस्वरूप परमात्मा के कर्म ही ज्ञान के अनुसार होते हैं ; इस कारण परम पुरुष से ओंकार शब्द नहीं लेना चाहिए, वरन ओंकार शब्द से जिस पर ब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्रगट होता है, वही लेना उचित है।

प्रश्न—छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि उस ब्रह्मपुर में एक घर्म नाम कमल है—"दहर" इन्द्र के आकाश में है; उसमें जो अन्त है, उसके जानने की इच्छा कर; उसको निर्णय कर ॐ सो यह जो 'दहर' बताया है; क्या वह आकाश का नाम है, परमात्मा का वा जीवात्मा का?

उत्तर—

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

पदार्थ—(दहरः) परमात्मा है (उत्तरेभ्यः) आगे की युक्तियों से अर्थ आगामी युक्तियों से।

भावार्थ—आगामी युक्तियों से सिद्ध है कि दहर से अर्थ वहाँ परमात्मा का है; आकाश और जीवात्मा का नहीं।

प्रश्न—उस श्रुति में जो ब्रह्मपुर बतलाया है, उससे क्या प्रयोजन है? ब्रह्म का पुर हो ही नहीं सकता; क्योंकि पुर के एक देश में राजा रहा करता है। यदि ब्रह्मपुर से अर्थ शरीर लिया जावे, तो उचित नहीं; क्योंकि शरीर के एक देश में ब्रह्म रह नहीं सकता। वह सारे संसार में व्यापक ही नहीं; किन्तु संसार से चौगुना है, इस कारण यहाँ पर जिसका पुर है, वह जीव ही लेना उचित है।

उत्तर—निश्चय ब्रह्म सर्वव्यापक है और जगत् उसके एक देश ही में रहता है, परन्तु ब्रह्मपुर का अर्थ मनुष्य-शरीर ही है; क्योंकि जिस प्रकार पुर के एक देश में राजा निवास करता है,

---

ॐ अथ यदास्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् तद्वा विजिज्ञासितव्यम्। छा० ८।१।१

उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में हृदय आकाश है; उसमें ही परमात्मा के दर्शन होते हैं। परमात्मा के देखने का स्थान मनुष्य-शरीर का नाम ब्रह्मपुर है।

प्रश्न—ब्रह्मपुर का दर्शन और किसी स्थान पर नहीं हो सकता; केवल उसके देखने के कारण एक स्थायी स्थान है?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य का आभास प्रत्येक स्थान पर पड़ता है, परन्तु देखने के लिये स्पष्ट दर्पण वा जल की आवश्यकता है; इसी प्रकार ब्रह्म के व्यापक होने पर भी जीव उसको मन के दर्पण के भीतर से ही देख सकता है। इस कारण शरीर का नाम ब्रह्मपुर रक्खा है।

प्रश्न—आकाश से यहाँ अर्थ ब्रह्म का है वा भूत आकाश का?

उत्तर—श्रुति ने बतलाया है कि जितना बड़ा यह आकाश है, उतना ही महान् हृदय के भीतर आकाश है। यदि हृदयाकाश का अर्थ भूताकाश होता, तो उसकी उपमा आकाश से नहीं दी जाती; क्योंकि उपमा जिसके साथ दी जाती है, वह स्वरूप से पृथक् हुआ करता है; दोनों एक नहीं होते। इस कारण यहाँ "दहर" आकाश से अर्थ परमात्मा का है, वही जाननेयोग्य और छान-बीन करने-योग्य है।

प्रश्न—क्या एक ही आकाश के भीतर और बाहर के भेद के कारण दो जानकर उपमा नहीं दे सकते? यदि दी जा सकती, तो भूत आकाश ही है।

उत्तर—भीतर का आकाश अणु परिमाणवाला है और बाहर का महत् परिमाणवाला है; निदान भीतर-बाहर के भेद से यह उपमा दी हुई सिद्ध नहीं होती; क्योंकि उपमा जहाँ दी जाती है, वहाँ एक सी आकृति होनी आवश्यक है, जो भीतर

और बाहर के आकाश में पाई नहीं जाती। इस कारण भूताकाश नहीं मान सकते; किन्तु ब्रह्म ही मानना पड़ता है।

प्रश्न—जिन अगली युक्तियों के कारण 'दहर' ब्रह्म ही है वह कौनसी हैं?

उत्तर—

गति शब्दाभ्याम् तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥ १५॥

पदार्थ—(गति शब्दाभ्याम्) ज्ञान, चलना और प्राप्ति अर्थात् प्राप्त होना तथा शब्द प्रमाण से (तथा) ऐसे ही (हि) निश्चय से (दृष्टं लिङ्गम्) प्रगट है चिह्न (च) भी।

भावार्थ—नित्य प्रति जीव निद्रावस्था में अपने भीतर उस परमात्मा को प्राप्त करके सुख भोगते हैं; क्योंकि इस समय परमात्मा से सुख लेते हुए भी अज्ञान के कारण उसके स्वरूप को नहीं जानते; अतः पुनः जाग उठते हैं। इस जाने-आने से ज्ञात होता है कि भीतर ब्रह्म है; जिसको जानने अथवा खोज करने की आवश्यकता है। यदि ज्ञान होता, तो उस सुख को प्राप्त करके जीव पुनः दुःखों की ओर वापिस न आते। दूसरे—जीव-के भीतर जो आकाश है, उसीका नाम ब्रह्मलोक प्रसिद्ध है; और सर्व संसार को धारण करनेवाला बताया है, जो ब्रह्म का प्रत्यक्ष लिङ्ग है; क्योंकि सब वस्तुयें तो जगत् के अन्तर्गत हैं, उनको धारण करनेवाला ब्रह्म ही हो सकता है।

धृतेश्चमहिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

पदार्थ—(धृतेः) धारण करनेवाला होने (च) और (महिम्नः) महिमा के (अस्य) उसकी (अस्मिन्) उसके भीतर (न) नहीं (उपलब्धेः) पाये जाने से।

भावार्थ—आकाश के भीतर उस परमात्मा की महिमा अर्थात् उसके गुण नहीं पाये जाते। परमात्मा सब जगत् का धारण करनेवाला है; आकाश धारण करनेवाला नहीं है। परमात्मा से जीवात्मा आनन्द को प्राप्त करता है; आकाश से जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। उसी प्रकार जो गुण श्रुति ने उस "दहर" के बतलाये हैं, वह भूताकाश के भीतर विद्यमान नहीं; निदान परमात्मा ही लेना पड़ता है। इन लक्षणों को यदि दूसरे स्थान पर खोज करें, तो मिल ही नहीं सकते; जैसा कि प्रथम सिद्ध कर चुके है कि जगत् को उत्पन्न करनेवाला व आनन्दस्वरूप आदि कोई दूसरा नहीं; अतः परमात्मा ही आचार्य लोग लेते हैं। इस पर और युक्ति देते हैं।

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

पदार्थ—(प्रसिद्धेः) यह प्रसिद्ध होने से (च) भी।

भावार्थ—आकाश परमात्मा का भी प्रसिद्ध नाम है, जैसा कि बहुत सी श्रुतियों से सिद्ध हो चुका है। जहाँ लिखा है कि सर्व भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं; इस कारण दहर आकाश से परमात्मा अर्थ लेना कोई अप्रसिद्ध नहीं। वह प्रथम ही बहुत स्थानों पर बतलाया जा चुका है; इस कारण दहर से अर्थ ब्रह्म ही है।

प्रश्न—यदि श्रुतियों से प्रसिद्ध ही लेना उचित है, तो जीव

का अर्थ भी हो सकता है। जैसे—कहा है कि यह सब, जो भली प्रकार फैला हुआ है, इस शरीर से पृथक् परमात्मा की ज्योति प्राप्त करके अपने मुख्य स्वरूप को प्राप्त होता है और यह ही आत्मा है।

उत्तर—

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८

पदार्थ—(इतरपरामर्शात्) इन लक्षणों से दूसरे जीवात्मा का विचार होने से (सः) वह जीव दहर है (इति चेत्) यदि ऐसी शङ्का है (न) नहीं (असम्भवात्) असम्भव होने से।

भावार्थ—यदि जीव को आत्मा शब्द से प्रयोग किया गया है, उसको भी शुद्धस्वरूप कहा गया; परन्तु वह सान्त होने से दहर आकाश के अर्थों में नहीं लिया जा सकता; क्योंकि उसका जगत्कर्ता आदि होना असम्भव है।

प्रश्न—जीव के परिच्छिन्न होने का क्या प्रमाण है? हम तो जीव को विभु मानते हैं।

उत्तर—शरीर को त्यागकर जाना और किसी शरीर को प्राप्त होना, यह सर्वव्यापक विभु के धर्म नहीं हो सकते; सान्त वस्तु आया जाया करती है। जीव असंख्य हैं, एक नहीं; इस कारण वह विभु नहीं हो सकते। यदि एक जीव होता, तो उसके निकल जाने से शरीर की मृत्यु किस प्रकार हो सकती है।

प्रश्न—क्या महर्षि कणाद ने जो आत्मा को विभु माना है, वह असत्य है?

उत्तर—महर्षि कणाद ने जो कुछ लिखा है, वह उचित है; क्योंकि वह आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थ लेते हैं; जिनमें से परमात्मा तो स्वरूप से विभु है और जीवात्मा जाति से विभु है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य बुद्धि उपाधि से भिन्न किये हुए चेतन का नाम जीव मानते हैं।

उत्तर—बुद्धि गुण है, जो किसी द्रव्य को भिन्न नहीं कर सकती; इस कारण यह सिद्धान्त शुद्ध है।

प्रश्न—सांख्य शास्त्र में बुद्धि को द्रव्य अर्थात् प्रकृति का कार्य माना जाता है?

उत्तर—यह भी सत्य नहीं। सांख्य शास्त्र ने कहीं भी बुद्धि को द्रव्य नहीं माना। जिन नास्तिक टीकाकारों ने कपिल मुनि को अपने साथ मिलाना चाहा, उन्होंने कपिल के विरुद्ध महत् का अर्थ बुद्धि किया; वरना कपिल ने स्पष्ट शब्दों में महत् का अर्थ मन किया है। इस पर विपक्षी कहता है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥ १६॥

पदार्थ—(उत्तरात्) ऊपर के होने से (चेत्) यदि हो (आविर्भूत स्वरूपस्तु) अविद्या से ढका हुआ चेतन जब परदे को दूर करके प्रगट होगा।

भावार्थ—जीवात्मा अविद्या से ढका हुआ चेतन है; इस कारण उस अवस्था में जगत् उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस समय अविद्या के आवरण को पृथक् करके प्रगट होगा, तो वह जगत् का कारण हो सकता है; इसलिये जीव लेने में कोई दोष नहीं।

प्रश्न—क्या जीव ही दूसरी अवस्था में ब्रह्म हो सकता है या नहीं ?

उत्तर—यदि जीव अविद्या के आवरण में आया हुआ चेतन है, तो अविद्या का कारण क्या है और अविद्या किसका गुण है ? यदि कहो अविद्या सर्वत्र ब्रह्म का गुण है, तो बन नहीं सकता ; क्योंकि सूर्य में अंधकार रह नहीं सकता और यदि कहो जीव का गुण अविद्या है, तो अविद्या के सहारे जीव का होना और जीव के सहारे अविद्या का होना अन्योन्याश्रय दोष-युक्त है ; इस कारण अविद्या का परदा आना ही कठिन है और न उससे जीव उत्पन्न हो सकता है ; इस कारण जब ब्रह्म में अविद्या ही नहीं हो सकती, तो वह जीव हो ही नहीं सकता ; और जब जीव ब्रह्म का नहीं बन सकता, तो जीव अविद्या के नाश से कैसे ब्रह्म बन सकता है ।

प्रश्न—फिर "तत्त्वमसि" छान्दोग्योपनिषद् में कहा है ; क्या यह उचित नहीं ? उससे स्पष्ट जीव और ब्रह्म की एकता पाई जाती है ।

उत्तर—जहाँ पर यह वाक्य आया है, वहाँ उद्दालक मुनि ने अपने शिष्य श्वेतकेतु को उपदेश किया है । उस स्थान में नौ बार यह शब्द आया है ; परन्तु सारे विषय के पढ़ने से जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती ; किन्तु यह सिद्ध होता है कि श्वेतकेतु जीव तू है ।

प्रश्न—जबकि अन्य आचार्य्यों का ऐसा कथन है कि जब तक भेद बुद्धि को जो कि अविद्या है दूर नहीं किया जावेगा और जब तक साक्षी के ढंग पर नित्य देखनेवाला अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा नहीं मानता, तब तक ही जीव रहता है । जहाँ

भेद ज्ञान को दूर कर दिया, तब ब्रह्म हो जाता है ; इसी कारण उपनिषदों में ऐसा लिखा है कि जीव समझे 'मैं ब्रह्म हूँ'।

उत्तर—तुम पिछले सूत्रों में पढ़ चुके हो कि जीव उपनिषदों में स्थान-स्थान पर भेद का उपदेश करते हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहना अविद्या है ; क्योंकि जीव ब्रह्म हो नहीं सकता। उपनिषद् में जहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दिखलाया है, वहाँ यह विषय था कि इस सृष्टि से पूर्व ब्रह्म था। उसने अपने आपको जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। क्या ब्रह्म ने आपको ब्रह्म जाना, तो जीव भी अपने आपको ब्रह्म जान ले। जैसे—राजा तो राजा होता है ; परन्तु नाई भी अपने को राजा कहने लग जाय, तो क्या राजा कहने से नाई की प्रतिष्ठा हो जावेगी। वास्तव में जीव का अपने को ब्रह्म मानना अविद्या है।

प्रश्न—क्या जिन मनुष्यों ने यह कहा है कि दूसरे से भय होता है, एक मानने से भय नहीं होता, यहाँ अशुद्ध है ?

उत्तर—निश्चय, जो ईश्वर को अपने से दूर मानता है, वही ईश्वर जानता है और उसको भय होता है। तात्पर्य जीव-ब्रह्म का भेद तो श्रुतियों ने जोर से दिखलाया है ; इस कारण जीव-ब्रह्म को एक मानना वेद के विरुद्ध होता है और जो उपदेश श्रुतियों से मिलता है, वह सबका भेदवाला है ; परन्तु जहाँ कहीं अभेद प्रतीत होता है, वहाँ दूरी का अभाव शून्यता बतलाने वा विरोध के न होने के कारण से कहा गया है। जैसे—बहुधा प्रेमी मनुष्यों को देखकर कहते हैं कि यह दोनों एक हैं ; जिस समय ब्रह्म जीव-ब्रह्म के संग से आनन्द गुण को प्राप्त कर लेता है, उस समय उसमें सच्चिदानन्द के गुण पाये जाते हैं। उसको ब्रह्म उपचार से कह सकते हैं। जैसे—लोहे के गोले में जब अग्नि

अधिक हो जाती है, तो बहुधा कहते हैं कि यह अग्नि हो गया; परन्तु अर्थ स्पष्ट होता है कि उसमें अग्नि इतनी प्रवेश हो गई है कि अब यह दूसरों को जला सकता है, जो कि अग्नि का कर्म है। वास्तव में इस गोले में अग्नि आदि के होने से गोले के गुण भी विद्यमान होते हैं।

प्रश्न—वामदेव ऋषि ने बृहदारण्यक उपनिषद् में अपने को ब्रह्म कहा है; क्या यह उचित नहीं है?

उत्तर—हम बतला चुके हैं कि विरोध न रहने के कारण व अधिक प्रेम के कारण उपचार से कहा है, वास्तव में जीव ब्रह्म का भेद ही बतलाया है; क्योंकि जीव के भीतर ब्रह्म विद्यमान है। उपाधि से जीव-ब्रह्म का भेद नहीं, किन्तु व्यापक व्याप्य-धर्म से जीव ब्रह्म का भेद श्रुति ने दिखलाया है; इस कारण वामदेव ऋषि ने अधिक प्रेम से कहा है। अब दिखलाते हैं कि दहर आकाश में ईश्वर का ही उपदेश है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

पदार्थ—(अन्यार्थः) दूसरे अर्थ के कारण (च) भी (परामर्शः) का विचार है।

भावार्थ—उपनिषद् के भीतर जो ब्रह्म पिता का विचार जीव के भीतर रखता है, वह समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में जब जीव के भीतर ब्रह्म के गुण आ जाते हैं, उस अवस्था का नाम ब्रह्मरूपता है और उसके योग्य है; परन्तु उस समय जीव आनन्द को भोगता और दुखों से रहित होता है; परन्तु उस समय भी जीव में अपने गुण अल्पज्ञता और शान्त होना आदि विद्यमान रहते हैं और जो कर्म सर्वज्ञ परमात्मा के हैं, वह नहीं कर

सकता है। इस कारण दहर आकाश से अर्थ ब्रह्म का ही लेना उचित है न कि बन्धन में फँसा हुआ जीव उसके योग्य है, न मुक्त जीव। यद्यपि मुक्ति में आनन्द गुण विद्यमान है; परन्तु सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता उस समय भी विद्यमान नहीं होता; निदान जीव के पापों से रहित आदि जहाँ कहीं है, वहाँ दुःख आदि से रहित अविद्या से शून्य होने के कारण कहा गया है, उससे वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ब्रह्म के कर्म नहीं कर सकता। इस कारण दहर आकाश से प्रयोजन ब्रह्म का है।

प्रश्न—श्रुति का ब्रह्म का एक सान्त स्थान परमात्मा उचित नहीं ज्ञात होता।

उत्तर—

अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

पदार्थ—(अल्प श्रुतेः) सान्त स्थान में जो श्रुति ने बतलाया है (इति चेत्) यदि हो (तदुक्तम्) तो पहले उसका उत्तर दे चुके हैं।

भावार्थ—यह जो शङ्का है कि परमेश्वर को एक सान्त स्थान में क्यों बतलाया, उसका उत्तर प्रथम दे चुके हैं कि वह उसकी सूक्ष्मता दिखाने के कारण और देखने के स्थान आदि के आरोप से कहा गया है, जिसको दूसरे पाद के सूत्र सात में स्पष्ट कर दिया है।

प्रश्न—यह किस प्रकार स्वीकार किया जावे कि सूक्ष्मता दिखलाने के कारण कहा गया है?

उत्तर—जब यह बतलाया है कि जितना यह बाहर का आकाश है, ऐसा ही भीतर का आकाश है; बाहर और भीतर का

आकाश बलिहाज लम्बाई और चौड़ाई के तो समान हो नहीं सकता; किन्तु सूक्ष्मता के लिहाज से दोनों एक से हैं; इस कारण यह उपमा दी गई है।

प्रश्न—जिन श्रुतियों में बतलाया गया है कि न वहाँ सूर्य प्रकाश करता है, न चन्द्रमा, न विद्युत, और न यह अग्नि, उसके प्रकाश से यह सब प्रकाश करते हैं; क्या वहाँ अग्नि का विधान है?

उत्तर—

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

पदार्थ—(अनुकृतेः) अनुमान करने के कारण (तस्य) उसके (च) भी।

भावार्थ—यह जो बतलाया गया है कि उस स्थान पर सूर्य प्रकाश नहीं करता और न चन्द्रमा और न तारागण प्रकाश करते हैं; और न विद्युत प्रकाश करती है; पुनः यह अग्नि अर्थात् दीपक लैम्प और गैस का प्रकाश किस प्रकार प्रकाश कर सकती है। उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सब प्रकाश करते हैं। यहाँ पर स्पष्ट प्रकट है कि जब सूर्य्य आदि के प्रकाश का निषेध हो गया, तो केवल जीव और परमात्मा दो शेष रह जाते हैं; परन्तु जीव परमाणुओं से नहीं कार्य्य कर सकता, जो उनको मिलाकर प्रकाश दे सके; निदान परमात्मा के अनुमान के कारण ही यह श्रुति है।

प्रश्न—उस स्थान पर सूर्य्य और चन्द्रादि क्यों नहीं प्रकाश करते?

उत्तर—सूक्ष्म पदार्थ के भीतर स्थूल पदार्थ गुण प्रवेश

नहीं हो सकते; जीव प्रकृति से सूक्ष्म है और सूर्यादि प्रकृति के सतोगुण से बने हुए हैं; इस कारण न तो यह स्वयम् भीतर जा सकते हैं और न उनका गुण प्रकाश जीव के भीतर प्रवेश हो सकता है। इस कारण जीव के भीतर प्रकाश करनेवाला परमात्मा ही है; क्योंकि सूर्यादि सब संयोग-जन्य अर्थात् कर्त्ता से रचित हैं और वे क्रिया से उत्पन्न होते हैं। इस उपाय का कारण परमात्मा है; इस कारण सब परमात्मा के कारण से ही प्रकाश होते हैं। यदि परमात्मा उनको संयुक्त न करे अर्थात् न रचे, तो कुछ भी प्रकाश नहीं दे सकती। जिस प्रकार घड़ी के भीतर जो चेष्टा होती है, वह घड़ीसाज के प्रबन्ध से होती है। बनी घड़ी में वही सुई और पीतल के पुरजे होते हैं।

प्रश्न—क्या अग्नि के परमाणु स्वयम् प्रकाश नहीं कर सकते?

उत्तर—परमाणुओं के अन्दर जो प्रकाश है, वह इस योग्य नहीं कि उसको कोई देख सके। जबकि यह अपने आपको नहीं दिखला सकती, तो औरों को किस प्रकार प्रकाश कर सकती है। निदान परमात्मा परमाणुओं को चेष्टा देकर सूर्य, चन्द्र, तारे और विद्युत की आकृति में लाते हैं। ऐसे ही और भी जितनी वस्तुयें हैं, उनके भीतर जो प्रगट होने की शक्ति है, वह सब ब्रह्म ही से होती है।

प्रश्न—जिस प्रकार चन्द्र, तारे आदि सूर्य के प्रकाश से प्रकाश करते हैं; ऐसे ही सूर्य किसी दूसरे सूर्य से प्रकाशित होते हैं; क्योंकि सूर्य अनेक हैं।

उत्तर—यदि इस सूर्य को किसी दूसरे सूर्य से, उसको तीसरे सूर्य से प्रकाशित होना स्वीकार किया जावे, तो अनवस्था अर्थात् प्रवाह दोष होगा। विज्ञान चेतन आत्मा के प्रकाश से

ही यह सब प्रकाश करते हैं; ऐसा मानना उचित है। इसके और युक्ति देते हैं।

अपिचस्मर्य्यते ॥ २३ ॥

पदार्थ—(अपि) भी (च) और (स्मर्य्यते) स्मृति ने भी दिखलाया है।

भावार्थ—ऐसा और भी स्मृति ने बतलाया है कि आत्मा ही ऐसा हो सकता है कि जो भीतर प्रकाश करे, जिसके प्रकाश से सब सूर्य्य, चन्द्र और तारे प्रकाशित हों। गीता में लिखा है कि न तो उसको सूर्य्य प्रकाशित करता है, न चन्द्र और न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर नहीं लौटते हैं, वह परम धाम मेरा है × और भी कहा है कि जो सूर्य्य का तेज सब जगत को प्रकाश देता है और जो अग्नि में प्रकाश है; वह सब मेरा तेज है।

प्रश्न—यह बतलाया गया है कि अँगूठे के समान पुरुष आत्मा के भीतर रहता है ॐ अँगूठे के बराबर धूम से रहित ज्योति की भाँति है और वह भूत और भविष्यत का स्वामी है; अब जो यह अँगूठे के बराबर पुरुष बतलाया है, यह जीवात्मा है वा परमात्मा है?

उत्तर—

शब्दादेवप्रमितः ॥ २४ ॥

× न तद्भासते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गी० १५६।

ॐ अंगुष्ठमात्र पुरुषोमध्य आत्मनि तिष्ठति।

पदार्थ—(शब्दात्) शब्द से (एव) भी (प्रमितः) परिमाणवाला सान्त ।

भावार्थ—वह अँगूठे के बराबर सान्त जो बतलाया गया है, वह परमात्मा ही है ; क्योंकि उसको भूत और भविष्यत् का स्वामी बतलाया है, जो जीवात्मा नहीं हो सकता ; इस कारण उस शब्द से स्वामी ब्रह्म ही है। कोई जीव बड़ा, प्रकृति, भूत और भविष्यत् का स्वामी नहीं हो सकता ; दूसरे आत्मा में वास करने-वाला सिवाय परमात्मा के अन्य नहीं हो सकता। इस प्रकार के शब्दों से स्पष्ट विद्यमान है कि वहाँ अँगूठे के समान पुरुष से प्रयोजन परमात्मा का है।

प्रश्न—सारे जगत् में व्यापक परमात्मा को अँगूठे के बराबर क्यों बतलाया ?

उत्तर—

हृद्यपेक्षयातु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(हृद्यपेक्षयातु) हृदय के अँगूठे के बराबर होने से (मनुष्याधिकारत्वात) मनुष्य के अधिकार होने के कारण।

भावार्थ—जिस प्रकार इतने बड़े सूर्य्य का आभास किसी चित्रकार के द्वारा उतारा जावे, तो जितना बड़ा दर्पण होगा उतना ही बड़ा प्रतिबिम्ब पड़ेगा। ऐसे ही यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक है ; परन्तु जिस हृदय में उसका आभास लेते हैं, वह अँगूठे के बराबर है ; इस कारण हृदय के नाप के बराबर ही उसके आभास का नाप होगा। इस विचार से पुरुष अर्थात् परमात्मा को अँगूठे के समान बतलाया है।

प्रश्न—अनेक योनियों में सबके हृदय अँगूठे के बराबर नहीं हो सकते। चींटी का हृदय स्थान अधिक छोटा होगा और हाथी का हृदय अधिक बड़ा होगा; फिर किस प्रकार उसको अँगूठे के समान बतलाया? यदि सब जीवों का हृदय स्थान अँगूठे के बराबर होता, तब यह बात समान हो सकती है।

उत्तर—सब योनियाँ सिवाय मनुष्य के भोग-योनि हैं; जिनमें परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता; इस कारण उनके हृदय के छोटे-बड़े होने से कोई दोष नहीं। अतः परमात्मा को जानने का अधिकार केवल मनुष्य को है। उसका हृदय स्थान अँगूठे के बराबर है।

प्रश्न—मनुष्यों में भी शारीरिक अवस्था का भेद है—कोई अधिक बड़ा है, कोई छोटा है; तो सबका हृदय स्थान अँगूठे के समान कैसे हो सकता है?

उत्तर—जितना बड़ा मनुष्य का शरीर होगा, उसी अनुसार उसका अँगूठा और हृदय स्थान होंगे; निदान प्रत्येक मनुष्य के अँगूठे के बराबर ही उसका हृदय-स्थान होने से सबके हृदयस्थान अँगूठे के बराबर हैं।

प्रश्न—क्या मनुष्यों से ऊपर जो देवता आदि हैं, उनको ब्रह्म का अधिकार नहीं?

उत्तर—इस पर व्यासजी कहते हैं—

तदुपर्य्यपिबादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

पदार्थ—(तत्) मनुष्य से (उपर्य्यपि) मनुष्य से ऊपर वालों के कारण भी (बादरायणः) व्यास के मत से (सम्भवात्) सम्भव होने से।

भावार्थ—मनुष्य से अपर जो देवता आदि हैं, उनको भी परमात्मा के दर्शन का अधिकार है; ऐसा व्यासजी मानते हैं।

प्रश्न—यदि देवताओं के शरीर मनुष्य से बड़े व छोटे होते होंगे, तो उनके हृदयाकाश अँगूठे के बराबर नहीं रहेंगे ?

उत्तर—जिस प्रकार छोटे-बड़े मनुष्यों में उनके अँगूठे के बराबर हृदयाकाश है, ऐसे ही देवतों के शरीर में उनके अँगूठे के बराबर हृदयाकाश होगा।

प्रश्न—क्या देवतों का शरीर है, जो उनको अँगूठे के बराबर उनका हृदयाकाश स्वीकार किया जावे ?

उत्तर—सब शास्त्रों, वेदों और उपनिषदों से देवता मूर्तिमान सुने जाते हैं और उनके ब्रह्मचर्य्य धारण करके पठनादि का समाचार सुधार स्पष्ट प्रगट है कि जिसको ब्रह्मचारी बनकर पढ़ने का अधिकार है, उसका परमात्मा के जानने का अधिकार है।

प्रश्न—क्या उन देवताओं को भी देवताओं की पूजा का अधिकार है ?

उत्तर—देवताओं का महादेवता महादेव परमात्मा है। उसकी पूजा का तो अधिकार है, परन्तु उनका कोई मूर्तिमान देवता नहीं और न ऋषियों का कोई ऋषि ही है; इसकारण देवता-कर्मकाण्ड जिसमें देवऋषितर्पण भी सम्मिलित हैं उससे परे हैं।

प्रश्न—यदि देवताओं को मूर्ति अर्थात् शरीर स्वीकार करोगे, तो कर्म में विरोध आयेगा, जैसे—एक ही समय में दो विरुद्ध स्थानों पर यज्ञ हुए हों, तो ये देवता कैसे जा सकेंगे ?

उत्तर—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

पदार्थ—(विरोधः) रुकावट (कर्मणि) कर्म है (इति चेत) यदि ऐसा है (न) दोष नहीं (अनेक) एक से अधिक (प्रतिपत्तेः) अधिकार के होने को (दर्शनात्) देखने से ।

भावार्थ—यदि देवता शरीरधारी भी हैं, तो कर्म में कोई रुकावट नहीं आती; क्योंकि जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे संसार के कर्मकाण्ड से सम्बंध रखता है, यद्यपि सूर्य सांत अथवा शरीरी पदार्थ है; परन्तु जहाँ कोई कर्म करेगा, वहीं सूर्य का सम्बन्ध विद्यमान होगा; इसी प्रकार एक शरीरधारी सूर्य्य का अनेक स्थान के कर्म के साथ सम्बन्ध देखते हैं। दूसरे बहुत से आचार्य इस प्रकार मानते हैं कि देवता अधिक शरीर धारण कर सकता है और योगी के लिये जो कई शरीर धारण करने की सिद्धि बतलाई गई है, उसको उदाहरण में प्रस्तुत कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यासजी के मत में देवता शरीरधारी हैं और एक से अधिक शरीर धारण कर सकते हैं।

प्रश्न—क्या एक जीवात्मा का एक काल में अनेक शरीर धारण करना सम्भव हो सकता है ?

उत्तर—गीता आदि में लिखा है कि योगी बल प्राप्त करके आत्मा को सहस्रों शरीरों में ला सकता है, उससे सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमता है और उन सहस्रों आत्माओं में से

कोई तो विषय भोगता है और कोई तप करता है, पुनः उन सहस्रों को जमा कर लेता है ; जैसे सूर्य्य अपने किरणों को।

प्रश्न—निश्चय गीता में लिखा है, परन्तु सम्भव होना केवल लेख से नहीं ; किन्तु प्रमाणों से आवश्यक है।

उत्तर—आत्मा प्रत्यक्ष तो है ही नहीं, जिसपर प्रत्यक्ष प्रमाण हों। अनुमान प्रत्यक्ष के आधीन होता है। उसपर प्रत्यक्ष के सम्बन्ध के ग्रहण किये बिना शून्य और प्रमाणों का पक्ष (दावा) नहीं किया जा सकता ; निदान ऐसे स्थानों पर मानसिक प्रत्यक्षवालों का शब्द ही प्रमाण हो सकता है। निदान गीता के वाक्य और व्यास के कथन से तो स्पष्ट प्रगट है, परन्तु दूसरा सूर्य्यवाला उत्तर तो प्रत्यक्षवादियों के लिये भी है, उस पर अगले सूत्र में विचार करते हैं।

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानु-मानाभ्याम् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(शब्द) शब्दों के अर्थ (इति चेत) यदि यह शङ्का हो (न) कोई दोष नहीं (अतः) इससे (प्रभवात्) उत्पन्न होने से। प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् प्रत्यक्ष और अनुमान से।

भावार्थ—इस स्थान पर शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि देवतों की मूर्ति मानने से कर्म में रुकावट न भी हो, तो भी शब्द प्रमाण नहीं रहेगा ; क्योंकि शब्द और अर्थ के अनादि सम्बन्ध के कारण वेद को अनादि होने से बिना किसी दूसरे प्रमाण की उपस्थिति के प्रमाण स्वीकार किया है ; परन्तु जब देवतों की मूर्ति

अनित्य है, क्योंकि वह एक और अनेक हो सकती है और जिसमें विकार होता है, वह अनित्य होती है ; इस कारण अर्थ से जो शब्द का सम्बन्ध है, वह अनित्य होगा ; क्योंकि अनित्य वस्तु से नित्य सम्बन्ध हो नहीं सकता। इस कारण प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी दूसरे प्रमाण से शरीरधारी पदार्थ को जानकर शब्द नियुक्त करना उचित है। उस दूसरे प्रमाण के आवश्यक होने से वेद के प्रमाण होने से रुकावट उत्पन्न होती है। उस शङ्का के सम्बन्ध में विचार उत्पन्न होता है कि क्या शब्द के अनित्य होने से शब्द, अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होगा वा अर्थ के अनित्य होने से। यदि कहो शब्द के अनित्य होने से, तो बन नहीं सकता ; क्योंकि देवताओं की मूर्ति के तद्दोल होने से प्रथम वह शब्द विद्यमान था, क्योंकि देवताओं की मूर्ति का कारण होने से कर्म में रुकावट न होने की भाँति वेद के प्रमाण में भी रुकावट नहीं।

प्रश्न—क्या वेद के शब्दों से देवता प्रसन्न होते हैं, जबकि प्रथम सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ बतला चुके हैं ? अब शब्द से उत्पन्न होना किस प्रकार बतलाते हैं ; यदि वैदिक शब्दों से ही देवताओं की उत्पत्ति स्वीकार की जावे कि जितने वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवता हैं सबही अनित्य होंगे ; क्योंकि उत्पत्ति-वाली वस्तु अनित्य होती है। जब वसु, रुद्र, आदित्य आदि उत्पन्न हैं, तो उनको प्रगट करनेवाले वसु, रुद्र आदि शब्द किस प्रकार अनित्य होंगे ; क्योंकि यह जगत् में प्रसिद्ध बात है कि वस्तु के उत्पन्न होने पर उसका नाम रक्खा जाता है।

उत्तर—शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक यौगिक, दूसरे रूढ़ि। यौगिक शब्दों को तो अपने अर्थ से नित्य रहनेवाला सम्बन्ध होता है ; परन्तु संसार में जिस शब्द का यौगिक अर्थ

लेना स्वीकार है, जिसमें वह अर्थ पाये जायँगे, वही उसका अर्थ होगा। जाति होने से व्यक्ति उस जाति के विद्यमान होंगे, उन्हींसे उस शब्द का सम्बन्ध होगा। निश्चय रूढ़ि शब्द वस्तु के उत्पन्न होने के पश्चात् किसी अर्थ के कारण कल्पित किया जाता है; इस कारण यह दोष नहीं आ सकता कि शब्दार्थ का सम्बन्ध उत्पन्न हुए का हो जावेगा और वेद नित्य नहीं रहेंगे और ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति तो और अर्थों में बतलाई है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है। सूर्य्य आदि जितने देवता हैं, सब उसने बनाये हैं; परन्तु शब्द से उत्पन्न होने से यह अर्थ है कि जिस वस्तु में वह गुण विद्यमान होंगे, शब्द का अर्थ उससे निकल आवेगा। उदाहरण—शब्द ने बतलाया है जैसा कि गायत्री-उपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है अर्थात् जो चार वेदों को जानता है, वह ब्रह्मा कहाता है × । अब यदि ब्रह्मा मूर्तिमान स्वीकार किया जावे, तो जितने चार वेदों के ज्ञाता होंगे सब ही ब्रह्मा शब्द के अर्थों में आ जायँगे। उनमें से किसी एक के उत्पन्न होने वा नाश होने से यह सम्बन्ध टूट नहीं सकता; अतः चारों वेदों के ज्ञाता का नाम ब्रह्मा होना कहाँ से ज्ञात हुआ—शब्द से; इस कारण देवता शब्द से उत्पन्न होते हैं। जिस मूर्ति में यह गुण पाया जावे, जिसको शब्द ने बतलाया है, वही मूर्ति उस शब्द का अर्थ हो जावेगी; इस कारण देवताओं के शरीरधारी होने से भी कर्म में कोई दोष नहीं आता। प्रयोजन यह है कि जिस प्रकार गौ शब्द से बहुत शरीर-धारी पशुविशेषों का ज्ञान हो जाता है; किसी एक शरीरधारी वस्तु से प्रयोजन नहीं होता; इस कारण जिस कर्म में गौ की

× वेदेभ्यो ब्रह्माभवति।

आवश्यकता होती है, वहाँ जो गौ मिलती है, उसीसे कार्य चलाया जाता है। ऐसे ही ब्रह्मा आदि शब्दों से चार वेदों के जाननेवाले से प्रयोजन है। यद्यपि वह शरीरधारी होगा; परन्तु आवश्यक नहीं कि वह एक ही हो। जितने मनुष्य व चार वेदों के ज्ञाता होंगे, वह सब ही ब्रह्म होंगे। पिछले सूत्रों में जो देवताओं का अनेक होना बतलाया गया है, उसका इस सूत्र से पता लग गया कि शब्द ने तो गुण देवता में बतलाये हैं; जिसमें वह पाये जाँय, वह ही देवता हैं। इसी प्रकार गुण एक ही में नहीं पाये जाते; किन्तु अनेक में पाये जाते हैं, जिससे प्रत्येक देवता अनेक हो सकते हैं; अतः न तो इस कल्पना की आवश्यकता है कि एक देवता बहुत आकृतियें धारण कर लेता है, क्योंकि उस दशा में भी अनेक होंगे जो असम्भव है; न योगी ही को सहस्रों शरीर देने की आवश्यकता है; किन्तु देवता शब्द से उत्पन्न होते हैं, जिससे कोई शंका ही नहीं रही।

प्रश्न—जबकि अन्य आचार्य्यों ने यह स्वीकार किया है कि अणिमादि सिद्धियों से योगी एक से अधिक रूप धारण कर सकता है, क्या यह सत्य नहीं?

उत्तर—शरीर तो अनेक हो जावें, परन्तु मन और आत्मा अनेक कहाँ से होंगे; क्योंकि आत्मा अपने सजातीय नहीं उत्पन्न कर सकता, न मन ही अपने सजातीय उत्पन्न कर सकता है। निदान अणिमा आदि सिद्धियों का अर्थ यह नहीं, क्योंकि योग के सम्बन्ध में उसका पता पाठ-करनेवालों को योग का भाष्य देखने स मिलेगा।

प्रश्न—यह किस प्रकार ज्ञात हो कि शब्द से जगत उत्पन्न हो सकता है वा शब्द से देवता उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—प्रत्यक्ष और अनुमान से यह बात सिद्ध है ; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य देवता है। गौ शब्द के कहने से गौ जाति का ज्ञान हो जाता है और अनुमान से भी ज्ञात होता है कि जिस शब्द से जिस वस्तु का सम्बन्ध है, उस शब्द से अर्थ का ज्ञान हो जावेगा। श्रुति और स्मृति के कथन ॐ से भी अनुमान होता है जैसा कि कहा है—प्रथम सब का नाम और कर्म पृथक्-पृथक् ज्ञान में स्थित करके वेद शब्द से उनको वर्णन और उनकी उत्पत्ति की और यह भी सब देखा है कि प्रथम शब्द को सुन करके ही उसके अर्थ को देखते हैं। इस कारण प्रजापति ने भी सृष्टि से पूर्व वैदिक शब्दों को ज्ञान में निश्चित करके तदनन्तर उससे जानने योग्य वस्तुओं को बनाया ; इस प्रकार और बहुत सी युक्तियों से भी सिद्ध होता है कि देवता आदि की कल्पना वैदिक शब्दों से होती है। अब वेदों का नित्य होना सिद्ध करते हैं ॥

अतएव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

पदार्थ—(अतः) इस कारण से (एव) ही (च) और (नित्यत्वम्) वेदों को नित्य सिद्ध किया गया है।

भावार्थ—क्योंकि भूमण्डल की वस्तुयें जो यौगिक नाम रखती हैं, वे सब वेदों में विद्यमान हैं और प्रत्येक जगत् की वस्तु के ज्ञान का बीज अर्थात् कारण हैं ; इसलिये वेद नित्य हैं। वेद में सब नाम यौगिक हैं, इसी कारण वेद के शब्दों से

ॐ सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे समहेश्वरः ॥ मनुः ॥

ही जगत् की उत्पत्ति आचार्य्य लोग मानते हैं। व्यास स्मृति में भी लिखा है कि पूर्वकल्प अर्थात् ब्रह्म दिन के अन्त में जो सृष्टि सम्बन्धी इतिहास सहित वेद परमात्मा में लय हो गये थे, सृष्टि के प्रारम्भ से अन्तःकरण में ईश्वरीय प्रेरणा के साथ महर्षियों ने प्रथम तप से प्राप्त किया, जो ऋषि विना माता-पिता के स्वयम् उत्पन्न होते हैं। *

प्रश्न—प्रथम सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर वेदों का कर्त्ता है; अब उसको नित्य बतलाते हैं; इस कारण यह बात उचित नहीं; क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न हो वह नित्य नहीं हो सकती।

उत्तर—निश्चय वेद नित्य हैं; क्योंकि ईश्वर का ज्ञान होने से अर्थात् जो ईश्वर सृष्टि रचते हैं, उसका ज्ञान वेद के द्वारा देते हैं। जो ईश्वर का गुण है, वह अवश्य ही नित्य होगा; क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होता है अर्थात् गुण के विना गुणी और गुणी के विना गुण नहीं हो सकता; इस कारण अवश्य और आवश्यक समवाय सम्बन्ध होने से जबसे ईश्वर है, तब से वेद हैं; क्योंकि ईश्वर नित्य है; इस कारण उसका गुण वेद भी नित्य है।

प्रश्न—फिर ईश्वर को वेदों का कर्त्ता व आदि मूल क्यों कहा?

उत्तर—क्योंकि ईश्वर का ज्ञान अनन्त है। उसमें से जीव की मुक्ति के हेतु जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उसको परमात्मा ने अपने अनन्त ज्ञान से पृथक् करके दिया है। इस पृथक् करने के कारण ईश्वर को वेदों का कर्ता बतलाया है। जितने मनुष्यों को ज्ञान

* युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥ मनुः।

हो सकता है उसका बीज वेद है। वेद से अतिरिक्त कोई ऐसी बात नहीं कि जिसका जानना मुक्ति के लिये आवश्यक हो।

प्रश्न—वेद को ईश्वर के बनाये हुए वा उसका ज्ञान होने में क्या प्रमाण है; क्योंकि हम तो सुनते हैं कि वेद ऋषियों के बनाये हैं।

उत्तर—जो प्रमाण सूर्य्य को ईश्वर का बनाया हुआ होने में है, जिस प्रकार कोई मनुष्य दीपक तो जला सकता है, लैंप और गैस का प्रकाश उत्पन्न कर सकता है; परन्तु सूर्य्य कोई मनुष्य नहीं बना सकता; क्योंकि सर्व प्रकाश का मूल है। बीज से वृक्ष उत्पन्न करना, तो मनुष्य जानता है और उससे दूसरे बीज भी उत्पन्न हो जाते हैं। प्रथम बीज कोई मनुष्य नहीं बना सकता, और न बिना बीज अर्थात् कारण के कोई कार्य्य (मालूल) बन सकता है; ऐसे ही यदि परमात्मा विद्या का सूर्य्य वा मूल मनुष्यों को न प्रदान करता, तो किसी दशा में भी सृष्टि में दीपक और लैम्प की भाँति ज्ञान और धर्म-पुस्तकें रची नहीं जा सकती थीं।

प्रश्न—वेदविद्या के सूर्य्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—युक्ति से जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य जानता है कि रात्रि और दिन के भेद का कारण सूर्य्य होने से वेदज्ञान चक्षुओं के लिये परमात्मा ने सूर्य्य रूप बनाया है। जब तक सूर्य्य का प्रकाश रहता है तब तक वहाँ दिन कहाता है; जब तक सूर्य्य का प्रकाश बिना किसी वाह्य आवरण के छिपा रहता है, उस अवस्था का नाम रात्रि होता है; ऐसे ही जब तक वेद का सूर्य्य रहता है तब तक ब्रह्म दिन अर्थात् सृष्टि कहलाती है। इसलिये वेद आत्मज्ञान का सूर्य्य और सूर्य्य (माद्दी) स्थूल चक्षुओं के कारण परमात्मा ने बनाया है।

प्रश्न—क्योंकि यह बात प्रत्येक मनुष्य जानता है कि सूर्य्य किसी देश के अन्दर नहीं; किन्तु सब देशों से पृथक् है; परन्तु दीपक प्रत्येक गृह में होता है। ऐसे ही जितनी और वस्तुयें हैं, वह किसी न किसी देश की भाषा में हैं और वेद किसी देश की भाषा में नहीं, जिससे उसका प्रत्येक गृह में पृथक् होना प्रकट है।

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की बनाई हुई पुस्तक में मनुष्य की रियाअ़त पाई जाती है और वेद में किसी मनुष्य की रियाअ़त नहीं। इस पर सैकड़ों युक्तियाँ हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं; परन्तु यह बात तो सबको मालूम है कि यदि पृथ्वी, उसका मानचित्र और भूगोल तीनों एक स्थान पर मिल जावें, तो फिर किसीको भूगोल अशुद्ध होने की शंका नहीं रहती। इसी प्रकार वेद है। सृष्टि का भूगोल, मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड का चित्र, सब जगत् पृथ्वी मान लो और वेद की शिक्षा ईश्वरीय नियम चित्र के साथ बराबर समता रखता है, जिससे उसका ईश्वरीय ज्ञान होना पाया जाता है।

प्रश्न—जबकि प्रत्येक सृष्टि में और वेद का नाश होना मानते हो, तो वह नित्य कैसे हो सकता है?

उत्तर—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

पदार्थ—(समान) एक (नामरूपत्वात्) नाम और रूप होने से (च) भी (आवृत्तौ) दुबारा होने पर (अपि) भी (अविरोधः) विरोध वा रुकावट नहीं (दर्शनात्) देखने से (स्मृतेः) स्मृतियों से ज्ञात होने से (च) भी।

भावार्थ—क्योंकि प्रत्येक सृष्टि में सूर्य्य का एक रूप होता है, जगत् को सब वस्तुओं की एकसी आकृति (शक्ल) होती है और वेदों में उनके नाम भी एक से होते हैं; इसकारण वह अनित्य नहीं हो सकते। इसलिये वेदों का उत्पन्न होना और नाश होना अर्थात् ईश्वर से जगत् पर प्रगट होना और ईश्वर में लय हो जाना वेदों के अनित्य होने का कारण नहीं हो सकता। उसका प्रमाण यह है कि जैसे एक मनुष्य गृह में छिप जाये और दो घंटे पश्चात् उसी रूप वा आकृति में निकल आये, तो वह नवीन पुरुष नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही प्रति सृष्टि के अन्दर प्रगट होने और प्रति प्रलय में लय हो जाने से भी वेद अनित्य नहीं हो सकते। इसमें प्रत्यक्ष और मृत दोनों प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। नित्य सूर्य्य हमारे संमुख से छिप जाता है और अगले दिन प्रगट हो जाता है, जिससे संसार में रात-दिन होता है; परन्तु इससे कोई मनुष्य यह नहीं कहता कि सूर्य्य नित्य सायंकाल को नाश होता वा नित्य प्रातःकाल को उत्पन्न होता है; इसकारण वह अनित्य है। जिस प्रकार रात-दिन के व्यवहार से सूर्य्य अनित्य नहीं होता; ऐसे ही सृष्टि और प्रलय के व्यवहार से वेद अनित्य नहीं हो सकते।

प्रश्न—जबकि नित्य देवताओं के शरीर बनते और नाश होते हैं, तो उनको प्रगट करनेवाले शब्द भी बनते-बिगड़ते ही रहेंगे, इससे वेदों के शब्द अनित्य ही कहावेंगे।

उत्तर—जिस प्रकार किसी गौ के नाश हो जाने से गौ शब्द भी उसके साथ नष्ट नहीं हो जाता; क्योंकि उससे रूप में समता रखनेवाली जितनी गौयें हैं, उनमें वह शब्द उसी सम्बन्ध से स्थित है; इस कारण नाम और रूप के एक सा होने के कारण

वेद के शब्द एक से रहते हैं। इस कारण वह गौणिक नाम होने के कारण अनित्य नहीं। जिस प्रकार नित्यप्रति निद्रा की दशा में जीवात्मा, मन और इन्द्रियाँ भी लय हो जाती हैं और जाग्रत अवस्था में पुनः प्रगट हो जाती हैं; क्या इससे वह इन्द्रियाँ नित्य उत्पन्न होनेवाली विचार की जाती हैं वा दिन नित्यप्रति उत्पन्न होनेवाला समझा जा सकता है?

प्रश्न—यदि यह स्वीकार किया जावे कि प्रति दिवस नवीन इन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होते हैं, तो दोष ही क्या है?

उत्तर—इस दशा में स्मृति का अभाव होगा; क्योंकि कल जिस मनुष्य को देखा था, उसका आभास जिस मन पर पड़ा था, आज वह मन उपस्थित नहीं। इस प्रकार शिक्षा का क्रम सब समाप्त हो जावे; क्योंकि नित्य प्रति नवीन मन होने से कल का पाठ भूल जावेगा।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान जिस प्रकार बालकों को बढ़ता हुआ देखता है, जब वह बड़े होते हैं, तो पूर्ण ज्ञान होकर पुस्तकें लिखते जाते हैं; ऐसे ही प्राचीन मनुष्य (वहशी) जङ्गली थे; धीरे-धीरे जब ज्ञान बढ़ाया, तब उन्होंने वेद लिख दिये; इस कारण वेद नित्य नहीं कहला सकते।

उत्तर—ऐसा मानने में सृष्टि-नियम के विरुद्ध होता है; क्योंकि सृष्टि में सूर्य्य का प्रकाश जो पूर्ण प्रकाश है, प्रथम बना और फिर दीपक; लैम्प बने; ऐसे ही जब जल गङ्गा के गंगोत्री से निकलता है, तब शुद्ध होता है; आगे चलकर मलिन हो जाता है। इसी प्रकार वेद सृष्टि के बहुत दिन पश्चात उत्पन्न नहीं हुए; किन्तु माता-पिता से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सृष्टि से प्रथम उत्पन्न हुए जैसा कि स्मृति में लेख है कि जिस योनि का जो कर्म

सृष्टि से पूर्व वेद में निश्चित किया गया, वह वार-वार जन्म लेते हुए उसी कर्म को करते हैं, जो योनि हिंसक वनाई गई, वह हिंसक और जो दयालु वनाई गई, वह दयालु नजर आती हैं। जिस योनि को जिस कर्म के कारण वनाया गया है, वह वैसा ही करती है।

प्रश्न—मनुष्य को परमात्मा ने हिंसक वनाया है वा दयालु (अहिंसक)?

उत्तर—मनुष्य उभययोनि अर्थात् क्षीणता, अवनति और उन्नति दोनों करनेवाला है; इस कारण मनुष्य दो प्रकार के हैं—एक आर्य्य दूसरे दस्यु। आर्य्य दयालु होता है और दस्यु निर्दय होता है। आर्य्य ज्ञानानुकूल कर्म करनेवाले का नाम है, जो देवताओं का अनुगमन करता है; दस्यु अवनत कर्म करने-वाले का नाम है, जो दैत्यों का अनुगमन करता है। आर्य्य परोक्ष अर्थात् अन्तिम परिणाम पर विचार रखता है; दस्यु प्रत्यक्ष अर्थात् विद्यमान पर प्रसन्न होता है; आर्य्य श्रेष्ठ मार्ग पर चलता है और दस्यु प्रेम मार्ग पर।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार की सृष्टि अव उत्पन्न हुई है, ऐसे ही प्रथम भी थी और आगे भी होगी?

उत्तर—वेद में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य्य, चन्द्र, पृथ्वी और समुद्र आदि परमात्मा ने पूर्व उत्पन्न किये थे; ऐसे ही अव भी किये हैं; आगे भी ऐसा ही करेगा; क्योंकि परमात्मा के सर्वज्ञ होने से, उसमें उलट-पुलट नहीं होता × स्मृति में लिखा है कि जिस प्रकार ऋषियों के नाम

× सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्।

अब वेदों में देखे जाते हैं वा जिन ऋषियों के नाम अब वेदों में देखे जाते हैं वा जिन ऋषियों ने वेदों को देखा है, उनके नाम ब्रह्मरात्रि बीतने के पश्चात् जन्म से रहित परमात्मा वैसे ही देता है †। जितने प्रमाण वेदों के ईश्वरीय ज्ञान और नित्य होने के कारण विद्यमान हैं, उनको इस भाष्य के भीतर प्रस्तुत नहीं कर सकते। उसके लिये एक बहुत बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है।

प्रश्न—सूर्य्यादि देवताओं को वेद का अधिकार है वा नहीं ?

उत्तर—उस पर जैमिनि ऋषि की सम्मति है—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

पदार्थ—(मध्वादिषु) विद्याओं के नाम हैं, जो उपनिषदों में बतलाए हैं (असम्भवात्) असम्भव होने से (अनधिकारम्) अधिकार देवतों को नहीं (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य मानते हैं।

भावार्थ—जैमिनि आचार्य्य जो कि व्यासजी के शिष्य हैं, यह कहते हैं कि देवतों को ब्रह्म-विद्या अर्थात् परमात्मा को जानने का अधिकार नहीं; इसके लिये वह यह युक्ति देते हैं कि उपनिषदों में बतलाए हुए मधुविद्या आदि देवतों में होनी असम्भव है। इस कारण ब्रह्म-विद्या में उनको अधिकार नहीं।

प्रश्न—मध्वादि विद्याओं में देवतों को क्यों अधिकार नहीं ?

उत्तर—वहाँ बतलाया गया है कि आदित्य अर्थात् सूर्य्य मधु है, उसकी उपासना कर। अब सूर्य्य मधु बतलाया है। यदि सूर्य्य

† ऋषिणाम नाम धेयानि। ऋ०

के कारण सूर्य्य को मधु बतलाकर उपासना बतलाई जावे, तो आत्माश्रय दोष होने से असम्भव है। यदि सूर्य्य के कारण दूसरा सूर्य्य और उसके लिये तीसरे सूर्य्य स्वीकार किया जावे, तो प्रवाह का दोष आता है। यदि इस सूर्य्य के कारण यह सूर्य्य स्वीकार किया जावे, तो अन्योन्याश्रय दोष होता है; इस कारण किसी प्रकार स्वीकार करे सूर्य्य आदि देवता को मधु आदि विद्याओं में अधिकार असम्भव होने से अधिक नहीं। जब मधु आदि विद्याओं में सूर्य्य आदि का अधिकार नहीं, तो ब्रह्म-विद्या में कैसे हो सकता है; यह जैमिनिजी का मत है।

प्रश्न—देवताओं को ब्रह्म-विद्या में क्यों अधिकार नहीं?

उत्तर—

ज्योतिषिभावाच्च ॥ ३२ ॥

पदार्थ—(ज्योतिषि) ऊपर के चन्द्र-सूर्य्य-तारे आदि योनियों में (भावाच) देवता शब्द से लिये जाने से।

भावार्थ—क्योंकि देवता शब्द से सूर्य्य, चन्द्र, तारे प्रकाश देनेवाले शरीरों का अर्थ लिया जाता है, जो कि प्रकाश के मण्डल हैं; परन्तु उनमें हृदयाकाश आदि का होना सिद्ध नहीं होता और जहाँ हृदय और मन न हों, तो उनको विद्या का अधिकार कैसे हो सकता है, जब सूर्य्यलोक आदि भी पृथ्वी की भाँति अचेतन अर्थात् ज्ञानरहित हैं; इस कारण तारागण आदि भी समझ लेना चाहिये। इस कारण मूर्तिवाले देवताओं को भी ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं सिद्ध होता और

इसमें प्रत्यक्ष आदि तो उचित ढंग पर मान नहीं सकते, न इतिहास पुराणादि शब्द मनुष्यों के बनाये हुए इस परोक्ष विषय में प्रमाण हो सकते हैं।

भावन्तुबादरायणोऽस्तिहि ॥ ३३ ॥

पदार्थ—(भावन्तु) देवताओं का अधिकार है (बादरायणः) व्यासजी के मन में (अस्ति) है (हि) निश्चय करके; यक़ीनन ।

भावार्थ—यद्यपि मधु आदि विद्या में देवतों के असम्भव होने से अधिकार नहीं; परन्तु ब्रह्म-विद्या में अधिकार है; ऐसा व्यासजी मानते हैं; क्योंकि किसी एक वस्तु में अधिकार न होना सब स्थान के अधिकार को नहीं रोकता; जैसे— ब्राह्मण वर्ण के मनुष्य राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं रखते; क्योंकि यह अधिकार केवल क्षत्रिय वर्ण को है। क्या राजसूय यज्ञ में अधिकार न होने से ब्राह्मणों को और यज्ञ करने में भी अधिकार नहीं; परन्तु और यज्ञों में ब्राह्मणों को अधिकार दिया गया है। इसी प्रकार मधुविद्या में देवताओं को अधिकार न होने पर भी ब्रह्म-विद्या में उनको अधिकार है; क्योंकि श्रुति ने भी बतलाया है, जिसने देवतों में से जाना, जिसने ऋषियों में से और जिसने मनुष्यों में से जाना।

प्रश्न—जबकि वह सूर्य्य ज्योति अर्थात् प्रकाश से अर्थ है, तो अचेतन वस्तु को ज्ञान का अधिकार कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि ज्योति आदि शब्द भी सूर्य्य आदि देवताओं के लिये कहे जाते हैं; परन्तु उनमें अभिमानी चेतन स्वीकार किया जाता है। जैसे परमात्मा को ज्योतिःस्वरूप कहने से

वह अचेतन नहीं हो जाता, ऐसे ही चन्द्र आदि देवताओं को अचेतन मानकर भी उसका अभिमानी वा उसमें रहनेवाला चेतन पुरुष स्वीकार करना पड़ता है; अतः वह अधिकार उस चेतन के कारण ही हो सकता है, अचेतन के लिये नहीं।

प्रश्न—क्या मनुष्यों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं अर्थात् शूद्र को वेदान्त का अधिकार नहीं ?

उत्तर—

शुगस्यतदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

पदार्थ—(शुक्) शोक (अस्य) इस जानश्रुति का (तत्) उस जानश्रुति के (अनादर) कमक़दरी वा अधिकार का न होना (श्रवणात्) सुनने से (तदा) × उस समय (द्रवणात्) नर्म दिल होने से (सूच्यते) मालूम होता है कि शूद्र को अधिकार नहीं (हि) निश्चय करके।

भावार्थ—यहाँ पर छान्दोग्योपनिषद् के उस विषय के प्रमाण को प्रस्तुत करके जहाँ श्रुति पौत्रायण नाम राजा रैक्व मुनि के निकट विद्या के लिये जाता है और रैक्वमुनि उसको शूद्र कहकर पढ़ाने से इन्कार करता है, जिससे स्पष्ट प्रगट है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं; परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि विदुर वगैरह शूद्रकुल में उत्पन्न होकर ज्ञानी हुए हैं; फिर किस तरह शूद्र को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं ?

× धनरापाहु आभागा आने से।

प्रश्न—जानश्रुति तो क्षत्रिय राजा था; उसको रैक्वमुनि ने शूद्र क्यों कहा ?

उत्तर—एक तो वह हंस से शूद्र शब्द सुनकर ही रैक्व-मुनि के पास गया था। मुनि ने इस बात को जतलाने के कारण कि वह हंसवाली घटना से अवगत (खबरदार) है, उसको शूद्र कहा; दूसरे जानश्रुति गौ आदि धन के बदले विद्या की इच्छा करता था, इस बात को जतलाने के कारण कि तू विद्या की प्रतिष्ठा नहीं जानता; क्योंकि धन के बदले विद्या नहीं मिलती; किन्तु विद्या गुरु-भक्ति और सेवा से प्राप्त होती है।

प्रश्न—क्या शूद्र को वेद और वेदान्त के पाठ का अधिकार नहीं ?

उत्तर—क्योंकि जिसका उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार न हुआ हो, उसको ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं। शूद्र उसको कहते हैं कि जो उपनयन संस्कार से रहित हो। ब्रह्मविद्या का अधिकार उस मनुष्य को नहीं हो सकता, जोकि व्रत से शून्य है।

प्रश्न—वेद में तो चारों वर्णों को वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है।

उत्तर—चारों वर्णों की सन्तान को व्रतबन्ध अर्थात् उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार कराकर ही वेद-पठन का अधिकार है; बिना उसके नहीं; क्योंकि वेद वा ब्रह्म और विद्याओं के पढ़ने के पश्चात् ही आ सकती है। जिस मनुष्य ने वेदाङ्ग और उपाङ्ग को उचित ढंग पर नहीं समझा, उसको वेद का अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता; इस कारण महर्षि कपिल ने भी कहा था कि जो लोक अर्थात् अंग-उपांग को उचित प्रकार जानता है, उसीको वेदारम्भ का ज्ञान हो सकता है।

प्रश्न—फिर जानश्रुति को रैक्व मुनि ने क्यों पढ़ाया ?

उत्तर—

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्रचैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदार्थ—(क्षत्रियत्व) क्षत्रियपन * का (गतेः) ज्ञान होने से (उत्तरत्र) उसके पूर्व पुरखा × (चैत्ररथेन) चैत्ररथ नाम क्षत्रिय के साथ (लिङ्गात्) चिन्ह पाया जाने से।

भावार्थ—क्योंकि जानश्रुति कुल से भी और गुण, कर्म, स्वभाव से भी क्षत्रिय सिद्ध हुआ ; इस कारण रैक्वमुनि ने उसको पढ़ाया। यदि वह गुण, कर्म, स्वभाव से शूद्र होता, तो उसको मुनि किसी दशा में न पढ़ाते ; क्योंकि प्राचीन ऋषि गुण, कर्म, स्वभाव से वर्ण स्वीकार करते हैं।

प्रश्न—जानश्रुति में कौनसा गुण, कर्म और स्वभाव से क्षत्रिय का चिन्ह था ?

उत्तर—जहाँ वह कुल से क्षत्रिय था, वहाँ उसने जो बल से धन आदि प्राप्त किया था, वह उसके शूद्र होने का खण्डन करता है ; क्योंकि शूद्र सेवा करते थे, न कि राज्य। जबकि वह राजा हो गया, तो शूद्र कैसे कहला सकता था।

प्रश्न—क्यों शूद्र को अधिकार नहीं ?

उत्तर—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

---

* कहीं कहीं 'क्षत्रियत्वावगतः' ऐसा पाठ है।

× अन्य टीकाकार इसका अर्थ 'अगले प्रकरण में' करते हैं।

पदार्थ—(संस्कारपरामर्शात्) संस्कारों का विचार होने से (तद्) उसका संस्कार अभाव न होना (अभिलापात्) बतलाया जाने से (च) भी।

भावार्थ—क्योंकि शूद्र के माता-पिता उसके उपनयन आदि संस्कार नहीं कराते, जिससे उनके भीतर स्वयम् उत्तम संस्कार न होने का चिन्ह मालूम होता है और ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है कि प्रथम माता-पिता से उच्च शिक्षा और संस्कार प्राप्त कर पुनः पिता से उत्तम शिक्षा और उच्च संस्कार प्राप्त करें; फिर आचार्य्य से उच्च शिक्षा और संस्कार प्राप्त करें; क्योंकि शूद्र प्रथम के दोनों उत्तम संस्कारों से शून्य होते हैं; इसकारण शूद्र की आयु का प्रथम भाग अच्छा नहीं होता। जिस गृह की नीव ही बुरी है, उस पर ब्रह्मविद्या जैसे भवन कैसे स्थापित रह सकता है। हाँ; जिसके संस्कार नियमपूर्वक हों, वह ब्रह्मविद्या को जान सकता है।

प्रश्न—दूसरे मत और विदेशी मनुष्य संस्कार से खाली हैं; क्या उनको ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं ?

उत्तर—जो मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति से रहित है, जिनके अन्तःकरण पाशविक नियम अर्थात् जिसमें बल है, उसीका अधिकार है, इस सिद्धान्त पर आचरण कर रहा है, उनमें मनुष्यता ही नहीं। यदि मनुष्यता होती, तो किस प्रकार मसीह की भेड़ें बनकर परमेश्वर को सांत मान लेते। निश्चय ब्रह्मविद्या का अधिकार संस्कारहीन को नहीं हो सकता है। शूद्र को क्यों अधिकार नहीं इसपर और युक्ति देते हैं।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

पदार्थ—(तत्) उसके (अभाव) अभाव के

(निर्धारणे) निश्चय करने में (च) भी (प्रवृत्तेः) गौतम की प्रवृत्ति देखने से ।

भावार्थ—क्योंकि वेद के लिये सत्य का होना अवश्य है ; इस कारण जो सत्य बोलता है, वह शूद्र नहीं ; जैसा कि जिस समय सत्यकाम गौतम ऋषि के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने गया और गौतम ने उससे पूँछा कि तू किस गोत्र में उत्पन्न हुआ है, क्योंकि सत्यकाम का कोइ गोत्र न था ; इस कारण उसने सत्य-सत्य अपना वृत्तान्त प्रगट कर दिया, जिससे गौतम ने कहा कि ब्राह्मण के सिवाय इस प्रकार कौन सत्य बोल सकता है ; निदान सत्य-काम का उपनयन कराकर उसको शिक्षा भी दी ।

प्रश्न—क्या क्षत्रिय और वैश्य सत्य नहीं बोलते ? केवल सत्य से गौतम ने ब्राह्मण कैसे बतला दिया ?

उत्तर—क्षत्रिय और वैश्य रजोगुणी होते हैं ; जिसमें सच झूँठ मिला रहता है । सिवाय सतोगुणी ब्राह्मण के और में पूर्ण प्रकार सत्यता नहीं पाई जाती । शूद्र को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं, इसके लिये और प्रमाण देते हैं ।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥३८॥

पदार्थ—(श्रवणाध्ययनार्थ) सुनने पढ़ने और अर्थ विचारने का (प्रतिषेधात्) नहीं अर्थात् आज्ञा रोक देने से (स्मृतेः) धर्मशास्त्र में (च) भी ।

भावार्थ—क्योंकि धर्मशास्त्र ने शूद्र को वेद के पढ़ने, सुनने और अर्थ विचार करने को मना किया है ; किन्तु स्मृति ने इसके कारण दण्ड भी नियत किया है ।

प्रश्न—जबकि वेद सूर्य्य की भाँति सार्वभौम हैं, तो शूद्र को इसका क्यों अधिकार नहीं ?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य्य सबके लिये है, परन्तु उल्लू चिमगादड़, अन्धे और जिनके चक्षु में रोग है, उनके लिये नहीं; ऐसे ही जो वेद के पाठ के लिये उपनयन, वेदारम्भ संस्कार और ब्रह्मचर्य्य आश्रम धारण नहीं करता अथवा जो सत्य नहीं बोलता, जिसका वर्ण अनपढ़ होने के कारण शुद्ध शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकता, ऐसे मनुष्य का नाम शूद्र है। उसको वेद पढ़ने का अधिकार देना प्रज्ञाचक्षु को सूर्य्य दिखाना है। जिनके संस्कार हो चुके हों, वह चाहे किसी कुल में उत्पन्न हुए हों, उनको पढ़ने का अधिकार है; परन्तु सत्य का अभाव उपनयन आदि संस्कारों से रहित अनपढ़ शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं।

प्रश्न—कठ शाखा में यह जो बतलाया है कि यह जो सर्व-जगत् प्राणान्त, परिकम्पित और निकलते समय अधिक भीति होती है और वज्र गिरता है, जो उसको जानता, है वह मुक्त हो जाता है। उस समय भय देनेवाला कौन है? प्राण परमात्मा का ही नाम है वा पञ्च प्रकार वायु का।

उत्तर—

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

पदार्थ—(कम्पनात्) काँपने से वह भय देने-वाला परमात्मा है।

भावार्थ—क्योंकि बतलाया गया है कि जिससे सब भय-भीत होते हैं, इस कारण वह प्राण परमात्मा है अथवा सब

उसीके भय से भयभीत होते हैं; जैसाकि उपनिषद् में विधान कि उस परमात्मा के भय से नियमानुसार अग्नि तपती अर्थात् कर्म करती है, उसके भय से सूर्य्य नियमानुकूल चलता है, उसीके भय से इन्द्र अर्थात् विजुली चलायमान होती है, उसीके भय से वायु चलती है, उसीके नियम से मृत्यु काम करती है, सिवाय परमात्मा के इनको भय देनेवाला कोई नहीं। ×

प्रश्न—यदि प्राणों से प्राणवायु ली जावे; क्योंकि उसके निकलने से सव भयभीत होते हैं, तो यह प्रसिद्ध अर्थ होगा।

उत्तर—प्राणवायु के निकलने से सब प्राणी तो भयभीत होते हुए स्वीकार किये जा सकते हैं; परन्तु वायु को, प्राणवायु को, प्राणवायु से क्या भय हो सकता है। इसी प्रकार सूर्य्य और विजुली और मृत्यु और अग्नि को भी उससे कोई भय नहीं; इस कारण जिसके भय से सब काँपते हैं, वह केवल परमात्मा ही है और उसके नामों के अन्दर प्राण आदि विद्यमान भी हैं; इसलिये भय का कारण परमात्मा ही मानना पड़ता है। क्योंकि बिना वायु के जिसका नाम प्राण से लिया जा सकता है और सब जगत्‌मय खानेवाला है, वायु से वायु को दोष भय मानना आत्माश्रय दोष है; इस कारण वेदों ने सबको शक्ति देनेवाला परमात्मा को ही बतलाया है। शेष सब पदार्थ सिवाय जीवात्मा के नैमित्तिक क्रियावान हैं अर्थात् स्वतन्त्र क्रिया नहीं कर रहे हैं। उनमें जो कुछ शक्ति प्रतीत होती है, वह परमात्मा के नियम अर्थात् भय से दृष्टि आती है।

प्रश्न—जबकि वायु अर्थात् प्राण मनुष्य-जीवन का कारण

× भयादस्याग्निस्तपति भयात् याति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।

है; पशुजीवन भी उसीसे प्रतीत होता है; उसके रहने से जीवन और निकलने से मृत्यु नजर आती है, तो स्पष्ट मानना पड़ता है कि प्राणवायु के निकलने से भय है।

उत्तर—कोई जीव, प्राण और अपान के कारण नहीं जीता; किन्तु जिस चेतन के सहारे यह प्राण और अपान रहते हैं, उससे जीते हैं। जबकि श्रुति ने यह बतलाया है और युक्ति से भी सिद्ध होता है, तो उसके विरुद्ध मानना बुद्धिमत्ता नहीं।

प्रश्न—छान्दोग्योपनिषद् में जो विद्या के विषय में यह लिखा है कि यह जीवात्मा उस शरीर से पृथक् होकर परम ज्योति-स्वरूप को प्राप्त होकर अपने रूप से प्रगट होता है ×; यहाँ शंका यह है कि परम ज्योति सूर्य्य है, अग्नि है या परमात्मा ?

उत्तर—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

पदार्थ—(ज्योतिः) परमात्मा है ज्योति अर्थात् प्रकाश है (दर्शनात्) प्रकरण देखने से।

भावार्थ—इस जगह ज्योतिः शब्द के अर्थ ब्रह्म ही हैं; क्योंकि स्थान के विषय को देखने से स्पष्ट प्रगट होता है कि इस समय परमात्मा जो पापों से रहित है, उसकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् जिसका प्रथम जिक्र आ चुका है, उसको मिलाकर यहाँ अर्थ निकालना चाहिये; क्योंकि सबसे बड़ी ज्योतिः सिवाय परमात्मा के दूसरी नहीं हो सकती।

× एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरं ज्योतिरूप सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥ छा० ८।१२।३।

प्रश्न—क्योंकि ज्योतिः शब्द अग्नि के लिये प्रयोग हो चुका है और यहाँ कोई ऐसा स्पष्ट चिन्ह ही नहीं ; इस कारण यहाँ प्रथम मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के इच्छा के लिये सूर्य्य की उपासना बतलाई है।

उत्तर—नहीं, स्पष्टतया परम ज्योतिः के अर्थ ब्रह्म के हैं ; क्योंकि शरीर से रहित ज्योतिः बतलाकर प्रगट किया है कि वह ब्रह्म सूर्य्य का शरीर है। इस कारण उससे अभिप्राय नहीं लिया जा सकता।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

पदार्थ—(आकाशः) परमात्मा का नाम आकाश (अर्थान्तरत्वादि) अर्थान्तर आदि (व्यपदेशात्) बतलाया जाने से।

भावार्थ—आकाश नाम रूप से रहित जो इन्द्र है, वह ब्रह्म है, वह ही अमृत है ; उसीको श्रुति आत्मा बतलाती है। उस स्थान पर यह शंका होती है कि वह आकाश जिसका उस श्रुति में उसीका विधान आया है भूत आकाश है वा परमात्मा है। साधारणतया तो भूत आकाश ही मानना चाहिये ; क्योंकि आकाश शब्द उसीके लिये निश्चित है और नाम रूप से रहित उसकी कल्पना का स्थान भी वह हो सकता है ; परन्तु जहाँ जगत् का उत्पन्न करनेवाला बताया है, वहाँ ब्रह्म का नाम आकाश है ; इस कारण यहाँ आकाश शब्द किस अर्थ में है ? उसका निर्णय व्यासजी उस सूत्र से करते हैं कि वह भूताकाश नाम रूप से पृथक् होने से आकाश ब्रह्म का नाम है ; क्योंकि जितने नाम रूप

में हैं, वह उत्पन्न पदार्थों में रहते हैं। जीव भी नाम रूपवाली वस्तुओं के साथ सम्बन्ध रखता है; इसकारण ब्रह्म ही आकाश शब्द से अभिप्रेत है।

प्रश्न—जीव ब्रह्म का भेद है, जो नामरूपवाले पदार्थों में जीव का सम्बन्ध माना जावे; ब्रह्म को न माना जावे, क्योंकि बृहदारण्यकउपनिषद् में बहुत आत्मा स्वीकार किये हैं।

उत्तर—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

पदार्थ (सुषुप्ति) गाढ़निद्रा (उत्क्रान्त्योः) जाग्रत् अवस्था अर्थात् हालते बेदारी (भेदेन) पार्थक्य बतलाया जाने से।

भावार्थ—क्योंकि निद्रावस्था और जाग्रतावस्था पृथक्-पृथक् करके श्रुति ने बतलायी है; इस कारण जीव और ब्रह्म का भेद होने से जहाँ ब्रह्म का लक्षण मिले ब्रह्म और जहाँ जीव का लक्षण मिले वहाँ जीव लेना उचित है; इस कारण उपर्युक्त श्रुति में ब्रह्म ही लेना उचित है।

प्रश्न—आज तक सब आचार्य्य तो अभेद अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों को एक बतलाते रहे हैं, तुम भेद बतलाते हो?

उत्तर—ये सूत्र न तो हमने मन से बनाये हैं, न हम अपनी ओर से ही कुछ कहते हैं। प्रथम भी रामानुज आदि आचार्य्य जीव और ब्रह्म का भेद मानते थे, अब भी बुद्धिमान और विद्वान् मनुष्य भेद मानते हैं। इसकारण व्यासजी तो जगह बजगह जीव और ब्रह्म का भेद प्रगट करते हैं। इतने प्रमाणों के होने पर

भी यदि कोई अपने स्वार्थ से जीव और ब्रह्म का भेद न माने, तो उसकी इच्छा ; वरना श्रुति और सूत्रों से तो स्पष्टतया भेद प्रगट होता है ; इस कारण विज्ञान आत्मादि सब नाम जीव के हैं और ब्रह्म परमात्मा आकाशादि नाम ब्रह्म के हैं और श्रुति तो पुष्ट प्रमाणों से जीव और ब्रह्म का भेद बतलाती है। जीव और ब्रह्म के भेद-समर्थन में एक और प्रमाण देते हैं।

पत्यादि शब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

पदार्थ—(पति) स्वामि (आदि) वग़ैरा (शब्देभ्यः) शब्दों से स्पष्टतया जीव और ब्रह्म का भेद प्रगट होता है।

भावार्थ—क्योंकि परमात्मा को जीव, प्रकृति को अधिपति अर्थात् स्थिति रखनेवाला और स्वामी बतलाया गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह शब्द एक के लिये हो ही नहीं सकता ; क्योंकि स्वयं अपना स्वामी आप अपने में व्यापक स्वयम् अपने को देखनेवाला हो नहीं सकता ; क्योंकि उसमें आत्माश्रय दोष है, परन्तु यह शब्द श्रुतियों में परमात्मा के लिये बहुधा आते हैं कि परमात्मा सब भूतों का आत्मा है, जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा के अन्दर देखता है और सब भूतों के अन्दर परमात्मा को देखता है। इस प्रकार के भेद प्रगट करनेवाले शब्दों की उपस्थिति में बिला युक्ति जीव को ब्रह्म बतलाना उचित नहीं। इन तीन पादों में तो कोई ऐसा सूत्र नहीं, जो जीव और ब्रह्म को एक बतलाता हो वा उपधिकृत भेद कहता हो। विरुद्ध भेद कहनेवाले अधिक सूत्र और श्रुतियाँ और युक्तियाँ प्रस्तुत हो चुकी हैं। यदि मनुष्य वेदान्त से पृथक न्याय और वैशेषिक आदि शास्त्रों को पढ़ लेते, तो मायावाद को जो वेद-विरुद्ध है वेदान्त के नाम से

जो कि वेदानुकूल है व्याख्या न करते। यदि मनुष्य वेदान्त की सत्यता से अभिज्ञ (माहिर) हो जावे, तो उनकी आत्मा में इतना बल आ सकता है कि भूमण्डल के गुरु बन सकते हैं और प्रत्येक मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। यदि भारत के वैदिक धर्मी वेदान्त को खूब विचारें, तो उनकी और ही अवस्था हो जावे; मृत्यु का भय जाता रहे; आत्मा के भीतर शान्ति और आनन्द ज्ञात होने लगे; सर्व दुःख नष्ट हो जावें।

वेदान्त-दर्शन

चतुर्थ पाद

प्रथम तीन पादों में ब्रह्म के जानने के इच्छुकों के कारण ब्रह्म के लक्षण यह बतलाये कि जिससे यह सब सृष्टि की उत्पत्ति होती है, स्थिति रहती है और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। इस लक्षण में प्रकृति (माद्दा) वा परिमाणु भी सम्मिलित हो सकते हैं। उसको यह सिद्ध करके ज्ञान के अनुसार क्रिया प्रकृति में नहीं हो सकती; इस कारण वेद ने उसको कर्ता नहीं बतलाया। अब शेष शङ्काओं का भी उत्तर देते हैं।

प्रश्न—यह किस प्रकार सत्य हो सकता है कि प्रकृति जगत् का कर्ता नहीं; क्योंकि कठोपनिषद् में प्रकृति को जगत् का कारण लिखा है, जिससे अनुमान होता है कि प्रकृति जगत् का कर्ता है।

उत्तर—

अनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपक विन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पदार्थ—(अनुमानिकम्) अनुमान से सिद्ध होने-वाला (अपि) भी (एकेषाम्) एक शाखावालों के मत में (इति चेत) यदि दोष हो (न) नहीं (शरीर-रूपकम्) शरीर के अलङ्कार से (विन्यस्त) त्याग (गृहीतेः) ग्रहण करने से (दर्शयति) दिखलाये जाने से (च) भी।

भावार्थ—यदि कठोपनिषद् में यह देखकर कि महत् * अर्थात् मन से परे अर्थात् उसका कारण अव्यक्त अर्थात् प्रगट से रहित प्रकृति है और कारण के लिए यह नियम है कि वह पूर्व विद्यमान हो और इसके कारण ही कार्य की स्थिति हो, जबकि इन्हें आदि सृष्टि का हेतु स्थिति का कारण प्रकृति है और इससे प्रथम विद्यमान भी है, इससे इसके जगत्कर्ता होने का अनुमान हो सकता है और जबतक कार्य रहता है कारण भी उसमें विद्यमान रहता है, उससे स्थिति का कारण भी अनुमित हो जाता है और प्रलय (फ़ना) होकर कार्य अपने उपादान कारण में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार के अनुमान से प्रकृति को श्रुति के अनुसार जगतकर्त्ता सिद्ध करते हैं। उसके उत्तर में व्यासजी का कथन है कि कठोपनिषद् के लेख से प्रकृति के जगत्-कर्ता होने का अनुमान नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ शरीर का अलङ्कार बनाकर दिखलाया है कि यह शरीर गाड़ी है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन प्रग्रह (लगाम) है, बुद्धि सारथी और आत्मा उसमें विराजमान है। इस स्थान

* महतः परमव्यक्तम्।

पर शरीर प्रकृति को स्वीकार किया जा सकता है। आत्मा पुरुष है, जिससे स्पष्ट प्रगट है कि शरीर विना आत्मा के कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार स्वतन्त्र होकर प्रकृति जगत् को नहीं रच सकती जैसे मृतक शरीर कोई कार्य्य नहीं कर सकता; ऐसे ही गतिरहित प्रकृति (गैरमुतहर्रिक मादे) में जगत् उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती। निश्चय प्रकृति जगत् का उपादान कारण हो सकती है; परन्तु निमित्त कारण अर्थात् कर्ता नहीं हो सकती। वेदान्तदर्शन जिस कर्ता का निरूपण करता है, वह केवल निमित्त कारण (इल्लते फायली) है; इस कारण निमित्त कारण का लक्षण उपादान प्रकरण में नहीं हो सकता; क्योंकि उपादान कारण (गैरमुदरिक) ज्ञान-शून्य होने से किसी नियम-पूर्वक पदार्थ की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता। प्रकृति को गतिवाली (मुतहर्रिक अर्थात् साकित) मानकर भी उससे जगत् की उत्पत्ति असम्भव है; क्योंकि दो परमाणुओं में यदि चलने की शक्ति समान हो, तो किसी ओर चलें; संयोग असम्भव है। जितनी दूरी चाल से प्रथम होगी वह सदैव बनी रहेगी। यदि गतिशून्य (मुतहर्रिक) मानें, तो संयोग नहीं हो सकता। दूसरा उत्पत्ति और नाश दो गुण जो कि आपस में विरुद्ध हैं, किसी एक पदार्थ के गुण नहीं हो सकते; इस कारण बुद्धिमान मनुष्य की दृष्टि में कोई आवश्यकता इस प्रकार की प्रस्तुत नहीं हो सकती कि जिससे स्वभाव (नेचर) वा आकर्षण का अथवा कोई हेतु प्रकृति को जगतकर्ता सिद्ध कर सके।

प्रश्न—क्या प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति नहीं होती? उसको तो

दुनियाँ की उत्पत्ति का कारण बड़े-बड़े विद्वान् स्वीकार करते हैं।

उत्तर—स्वभाव (नेचर) के माननेवालों से यह प्रश्न किया जावे कि यह प्रकृति द्रव्य (मौसूफ) है वा गुण (सिफ़त) है; चेतन (मुदरिक) है अथवा जड़ (ग़ैर मुदरिक); सक्रिय (मुतहर्रिक) है वा अक्रिय (ग़ैरमुतहर्रिक); उसकी क्रिया स्वाभाविक है वा ज्ञानपूर्वक; तो उनकी पोल पाँच मिनट में खुल जाती है। निश्चय मूर्खों और स्कूलों के बालकों की दृष्टि में वह विद्वान् हो सकते हैं; परन्तु बुद्धिमानों की दृष्टि में वह स्वयम् असम्भव-दोष के गढ़े में गिरे हुए हैं और दूसरों को गिराते हैं।

प्रश्न—प्रकृति में आकर्षण शक्ति है, जिससे वह मिल जाती है और सृष्टि उत्पन्न हो जाती है।

उत्तर—क्योंकि प्रकृति में परिमाणु आपस में एक से हैं; इस कारण वह आकर्षण शक्ति से आपस में मिल नहीं सकते। आकर्षण शक्ति से बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खींच सकती है; परन्तु समान वस्तुयें नहीं मिल सकतीं। निदान जो मनुष्य आकर्षण से प्रकृति में संयोग मानते हैं, वह विद्वान् नहीं कहला सकते।

प्रश्न—कठोपनिषद् में जो शरीर का रूपक दिखलाया है वह जीव आत्मा से सम्बन्ध रखता है; क्योंकि इन्द्रियों को घोड़ा बतलाया है * परमात्मा को इन्द्रियाँ विद्यमान नहीं।

उत्तर—आत्मा शब्द से दोनों लिये जाते हैं। शरीर में व्यापक होने से जीवात्मा कहलाता है और संसार में व्यापक होने से परमात्मा कहलाता है; अतः प्रकृति को परमात्मा का शरीर

---

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच।

मानकर आत्मा से रहित शरीर कभी कर्ता नहीं होता। ऐसे ही प्रकृति स्वतन्त्रता से जगत् को नहीं रच सकती। जगत्कर्ता परमात्मा ही सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—इस स्थान पर इन्द्रियों के घोड़े जो लिखे हैं, वह परमात्मा में किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—घोड़ों की आवश्यकता ठिकाने पर जाने के लिये होती है, परन्तु परमात्मा के लिये कोई स्थान नहीं; इस कारण उसे इन्द्रियों की कोई आवश्यकता नहीं। केवल शरीर की भाँति प्रकृति में व्यापक होने से यह अलङ्कार उसमें भी आ सकता है।

प्रश्न—कठोपनिषद् में वर्णित है कि—इन्द्रियों से परे अर्थ अर्थात् रूप, रस, गन्ध आदि, अर्थों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे जीवात्मा, उससे परे महत् अर्थात् मन, उससे परे अव्यक्त और अव्यक्त से परे पुरुष अर्थात् परमात्मा है, जिससे परे कोई नहीं * इसमें बुद्धि दो बार आई है?

उत्तर—क्योंकि जीव के मन दो प्रकार के हैं—एक मल-विक्षेप-आवरणयुक्त मन, दूसरे मल-विक्षेप-आवरण-दोष से रहित मन। दूसरी बुद्धि दो प्रकार की है—एक बद्ध जीव की बुद्धि, दूसरी मुक्त जीव की बुद्धि। इस कारण मल-विक्षेप-आवरण दोष से रहित मन महान् परमात्मा को जानने से मान कहाता है।

प्रश्न—सांख्य दर्शन में महत् को प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला प्रथम् कार्य्य बतलाया है। उसको मन के नाम से प्रसिद्ध किया है।

---

* इन्द्रियेभ्यः परह्यर्था अर्थेभ्यस्तु परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मामहान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।

उत्तर—क्योंकि प्रकृति से जब मन उत्पन्न होता है, तब उसके भीतर यह दोष उपस्थित नहीं होते ; इसलिये उसकी महत् संज्ञा होती है।

प्रश्न—बहुत से आचार्य्य कहते हैं कि महत् नाम ब्रह्म की बुद्धि का है।

उत्तर—क्योंकि बहुधा स्थानों पर बुद्धि मन के स्थान पर प्रयुक्त होती है, जैसाकि न्याय दर्शन में प्रवृत्ति का लक्षण करते हुए दिखलाया है ; ऐसे ही और स्थान पर भी हो सकता है। इस प्रकार विचार करने से विश्वास होता है कि अनुमान से भी हम जड़ (गैरमुदरिक) प्रकृति को जगत्कर्ता नहीं कह सकते ; जैसे हमारा शरीर कर्ता नहीं कहा सकता। कर्ता का शब्द केवल आत्मा के लिये प्रयुक्त हो सकता है।

प्रश्न—प्रकृति को शरीर नहीं कह सकते ; क्योंकि वह स्थूल होता है।

उत्तर—

सूक्ष्मन्तुतदर्हत्वात् ॥२॥

पदार्थ—(सूक्ष्मम्) सूक्ष्म है (तु) शंका के उत्तर को बतलाता हुआ केवल (तत् अर्हत्वात्) योग्य होने से।

भावार्थ—क्योंकि शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन प्रकार के स्वीकार किये गये हैं ; इस कारण प्रकृति को कारण शरीर बतलाया गया है ; निदान सूक्ष्म प्रकृति को शरीर कहते हैं। कोई दोष नहीं ; क्योंकि कारण शरीर के नाम से सब विद्वानों ने स्वीकार किया है।

प्रश्न—शरीर स्पष्ट प्रगट होता है और प्रकृति को अयुक्त

(नाक़ाबिले इज़हार) बतलाया है ; इस कारण उसको शरीर कहना किसी प्रकार उचित नहीं।

उत्तर—यदि स्थूल ही शरीर होता, तो यह शंका उचित हो सकती थी ; परन्तु शरीर सूक्ष्म और कारण भी होता है और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्य्य शरीर कहाते हैं ; क्योंकि वह सूक्ष्म भूत जो जगत् की उत्पत्ति का कारण होते हैं, इसलिये उसको अव्यक्त भी कह सकते हैं।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

पदार्थ—(तत्) उसके (अधीनत्वात्) अधिकार में होने से (अर्थवत्) अर्थवाली है।

भावार्थ—यदि इस जगत् का कारण नाम रूप से रहित अव्यक्त कहाता है, तो उसके कार्य्य शरीर का, जो उसका स्वरूप ही है, अव्यक्त कहलाना असम्भव है। इस पर आचार्य्य विचार करके यह कहते हैं कि यदि हम स्वतन्त्र प्रकृति को कारण स्वीकार करें, तो प्रधान कारणवाद वा नास्तिकवाद कहला सकता है ; परन्तु परमात्मा के अधिकार से प्रकृति में कार्य्य होना तो हम भी स्वीकार करते हैं ; इस कारण वह अवश्य अर्थवाली ज्ञात होती है। उसके विना परमात्मा का जगत् उत्पन्न करना सिद्ध नहीं होता ; क्योंकि शक्तिरहित परमात्मा की किसी कर्म में प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती। सज्जनों ने कहा है—वे मनुष्य जो यह कहते हैं कि वेदान्त दर्शन के भाष्य करनेवाले शंकराचार्य्य प्रकृति को नहीं मानते, वे सामने आयें और इस सूत्र के भाष्य को देखें कि वह प्रकृति को परमात्मा के अधीन अर्थात् अधिकार में स्वीकार करते हैं और यह नियम भी है कि उपादान कारण

कर्ता के सदैव अधिकार में होकर कार्य बनाता है; स्वतन्त्र अर्थात् स्वयं नहीं बना सकता। जो मनुष्य सांख्य और वेदान्त में विरोध स्वीकार करते हैं, उन्हें सांख्य का वह सूत्र जिसमें बतलाया है कि कर्म जगत् का कारण नहीं; क्योंकि उसमें उपादान कारण होने की योग्यता नहीं और वेदान्त के उस सूत्र पर विचार करना चाहिये, जिससे स्पष्ट पाया जाता है कि सांख्य उपादान कारण का निरूपण करता है और वेदान्त निमित्त कारण का; निदान दोनों अपने-अपने सिद्धान्त पर उचित कह रहे हैं। दर्शन में जो मनुष्य विरोध बतलाते हैं, वह केवल दर्शनों को न जानने के कारण है।

प्रश्न—यदि प्रकृति और पुरुष एक स्वीकार किये जावें, तो क्या हो नहीं सकता।

उत्तर—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

पदार्थ—(ज्ञेयत्व) जानने के योग्य (अवचनात्) न बतलाया जाने से (च) भी।

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों एक नहीं हो सकते; क्योंकि सत, रज और तम गुण के कारण प्रकृति जानने-योग्य बतलायी गई है और पुरुष गुणों से रहित होने के कारण जानने योग्य नहीं।

प्रश्न—सत् किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसका स्वभाव प्रकाश करना ही है। अग्नि सतोगुण कहाती है।

प्रश्न—रज किसे कहते हैं?

उत्तर—जो न तो प्रकाश करे और न ढाँपे, उसे रज कहते हैं। जल, वायु, आकाश, काल और दिशा यह पाँच रज कहलाते हैं।

प्रश्न—तम किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो ढाँपने का गुण रक्खे, उसे तम कहते हैं। इस कारण पृथ्वी तम कहलाती है। निदान प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् हैं। प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्-चित् है, परमात्मा सच्चिदानन्द है ; क्योंकि परमात्मा पृथ्वी के अन्दर व्यापक है ; इस कारण प्रकृति को उसका शरीर कहते हैं। सांख्य शास्त्र में उसको प्रकृति नाम से कहा गया है, वेदान्त में माया नाम और न्याय में परिमाणु व भूत नाम दिया गया है। निश्चय सब शास्त्र एक ही भवन की भित्तियाँ हैं ; यद्यपि प्रत्येक श्रेणी पृथक्-पृथक् होती है ; परन्तु मंजिल के कारण सब आवश्यक होती हैं।

प्रश्न—यह कथन सत्य नहीं कि प्रधान अर्थात् प्रकृति को ब्रह्म से पृथक् किया जावे ; क्योंकि जो गुण ब्रह्म के हैं, वह गुण होती हैं ; परन्तु प्रकृति में पाये जाते हैं।

उत्तर—

वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

पदार्थ—(वदति) कहता है (इति चेत्) यदि यह शंका हो (न) नहीं (प्राज्ञः) ज्ञानवाला (हि) निश्चय (प्रकरणात्) विषयों से।

भावार्थ—यदि यह कहा जावे कि जो गुण सांख्यवाली प्रकृति में पाये जाते हैं, वह ब्रह्म में भी हैं। जैसे श्रुति का कथन है कि न तो उसमें शब्द गुण, न स्पर्श अर्थात् छुई जाती है,

न रूप है, वह नाश से रहित है और रस अर्थात् स्वाद और गंधरहित है। उसका आदि है और न अन्त। महत से परे है और अटल है। उसको जानकर मृत्यु के दुःख से छूट जाता है और जैसे प्रकृति को उन गुणों से शून्य बतलाकर महत् से परे अव्यक्त अर्थात वर्णनातीत कहा है, ऐसे इस स्थान पर परमात्मा के गुणों में बतलाया है। इस कारण उपनिषद् में अलक्ष्य से प्रकृति ले सकते हैं। उसके उत्तर में ऋषि कहते हैं— ऐसा नहीं हो सकता है; क्योंकि इस स्थान पर विषय के विचार से अलक्ष्य ऐसा ज्ञात होता है, जो चेतन हो जड़ प्रकृति का विषय नहीं।

प्रश्न—अव्यक्त बिना शरीरवाला अर्थात् अप्रकाश्य शब्द से प्रकृति तो स्वीकार की गई है, पुरुष कहीं नहीं बतलाया गया ?

उत्तर—गीता में कृष्ण का कथन है कि जो मुझ शरीर-रहित को शरीरधारी मानता है, वह बुद्धि से शून्य है; इस कारण अन्य स्थान पर भी विद्यमान् किया गया है।

प्रश्न—जबकि वहाँ बिना शरीरधारी अर्थात् अव्यक्त से पृथक् पुरुष बतलाया है, जो परमात्मा का नाम है; इस कारण महत् से परे अर्थात् उसका कारण प्रकृति ही को लेना चाहिये।

उत्तर—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

पदार्थ—(त्रयाणाम्) तीनों का (एव) है (च) और (एवम्) ऐसे ही (उपन्यासः) कथा (प्रश्नश्च) और प्रश्न हैं।

भावार्थ—कठोपनिषद् में जो कथा है, उसमें तीन वर माँगे गये हैं और उनमें तीन ही प्रश्न किये हैं—प्रथम अग्नि, दूसरे जीव, तीसरे परमात्मा का। जबकि उन प्रश्नों में प्रकृति के सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं, तो उत्तर में प्रकृति का वर्णन कैसे आ सकता है; इस कारण कठोपनिषद् के विषय से जगत्कर्ता परमात्मा ही सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—यद्यपि नचिकेता के प्रश्न में अग्नि है; परन्तु अग्नि सतोगुणी है, जो प्रकृति के और गुणों का भी विधान करता है; इस कारण भाग के प्रश्न से कुल के प्रश्न उपचार से ले सकते हैं। निदान उसमें तीनों नित्य पदार्थों का प्रश्न है; जिसमें से एक प्रकृति भी है।

उत्तर—यदि अग्नि भूत के सम्बन्ध में प्रश्न होता, तो सम्भव था; परन्तु यहाँ यज्ञ के सम्बन्ध में अग्नि जो स्वर्ग का कारण है, उसके सम्बन्ध का प्रश्न है, जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रश्नकर्ता नचिकेता को अग्नि से कोई प्रयोजन नहीं, जो सतोगुण के नाम से प्रसिद्ध की जाती; क्योंकि यज्ञ की अग्नि कार्य्य और सतोगुण कारण रूप का नाम है; निदान कठोपनिषद् का तात्पर्य ज्ञानवाले अव्यक्त से है।

प्रश्न—नचिकेता के प्रश्न तीन वरों के अनुकूल हैं—प्रथम वर में तो नचिकेता ने अपने पिता की प्रसन्नता का वर माँगा; दूसरे अग्नि के सम्बन्ध में प्रश्न किया; तीसरे में आत्मा विद्या का प्रश्न उठाया। परमात्मा का प्रश्न तीनों वरों से पृथक् है, इस कारण तीसरा प्रश्न, जो परमात्मा के सम्बन्ध में बतलाया है; वह जीव के सम्बन्ध में है। तीसरे वर का प्रथम भाग होने से जीव के सम्बन्ध में ही है।

उत्तर—सांख्य की परिभाषा में महत् शब्द मन का वाचक है; परन्तु उपनिषदों में भी महत् का वही अर्थ उचित नहीं; इस कारण जो अव्यक्त शब्द उपनिषद् में आया है, वह जीव और ब्रह्म के कारण हो सकता है, क्योंकि आत्मा शब्द जीव और ब्रह्म दोनों के लिये आते हैं; इस कारण आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न से दोनों का अर्थ लिया जा सकता है। इस कारण सांख्य की भाँति अव्यक्त का अर्थ प्रकृति कर्ता सत्य नहीं; किन्तु उपनिषद् में उसका अर्थ परमात्मा ही करना उचित है।

प्रश्न—क्या सांख्य की परिभाषा और उपनिषद् की परिभाषा में अन्तर है, जो अव्यक्त (ग़ैरमुजस्सिम) का अर्थ परमात्मा किया जावे?

उत्तर—

महद्वच्च ॥७॥

पदार्थ—(महत्) महत् शब्द की (वत्) प्रकार (च) से।

भावार्थ—जिस प्रकार महत् शब्द सांख्य में मन के लिये आया है, परन्तु वेद में इस परिभाषा में प्रयुक्त नहीं। जैसा कि लिखा है "महान्त विभुमात्मानम" जो आत्मा प्रत्येक शरीरधारी पदार्थ के संग संयोग रखनेवाला, महत् परिमाणवाला अर्थात् सबसे बड़ा है, जिससे बड़ा कोई नहीं; ऐसे ही और वेद-मंत्रों में सबसे बड़े के लिये यह शब्द आया है; मन व बुद्धि के लिये नहीं आया। इस कारण वेद और उपनिषदों की परिभाषा में सांख्य से अन्तर होने से उस जगह अव्यक्त का अर्थ परमात्मा लेना चाहिये; प्रकृति नहीं। इस कारण अनुमान के द्वारा भी प्रकृति वेद के अनुकूल जगत्कर्ता नहीं हो सकती।

प्रश्न—प्रकृति को जगत्कर्ता उपनिषदों ने स्वीकार किया है। जैसा कि लिखा है कि एक अज अर्थात् जन्मरहित सत्, रज और तमो गुणवाली जगत् को स्वरूप से रचनेवाली है।

उत्तर—

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(चमसवत्) चमसा की भाँति (अवि-शेषात्) कोई विशेषता न होने से।

भावार्थ—क्योंकि इस जगह न उत्पन्न होनेवाले से अर्थ वाले से जो प्रयोजन सत्, रज, तम गुणवाली प्रकृति का लिया जाता है, उसके लिये कोई विशेषता नहीं। दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे उपनिषदों में जल को श्वेत, अग्नि को लाल और पृथ्वी को काला बतलाया है; इसलिये अजा का अर्थ पृथ्वी जल और अग्नि हो सकता है।

प्रश्न—जबकि अनेक प्रकार की प्रजा के स्वरूप से उत्पन्न होनेवाली बतलाया है, उससे स्पष्ट ढङ्ग पर प्रकृति ही मानना पड़ती है।

उत्तर—जल, अग्नि और पृथ्वी से जगत् की उत्पत्ति सम्भव है; इस कारण उपादान कारण उनको स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

प्रश्न—क्योंकि वायु के बिना जीवन असम्भव है और पृथ्वी, जल और अग्नि के भीतर वायु आती नहीं; इस कारण सत, रज, तम तीन गुणवाली प्रकृति ही लेना उचित है; क्योंकि अनेक प्रकार की प्रजायें गुणों से ही उत्पन्न होती हैं।

उत्तर—वेदान्तशास्त्र में ज्ञानपूर्वक क्रिया इस श्रुति में नहीं लिखी। प्रकृति में ज्ञानपूर्वक क्रिया अवैदिक है न कि प्रकृति से जगत् का परमात्मा के आधीन होकर उत्पन्न होना। इस पर आक्षेप करते हैं।

ज्योतिःरूपक्रमात्तुतथाह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

पदार्थ—(ज्योतिःरूप) अग्निस्वरूप (उपक्रमात्) प्रवाह से (तु) भी (तथा) ऐसे ही (अधीयते) पढ़ते हैं (एके) एक शाखावाले।

भावार्थ—परमेश्वर से उत्पन्न ज्योति अर्थात् अग्नि, जल, पृथ्वी तीन प्रकार के भूतों को अजा विचार करना चाहिये। यहाँ अजा अर्थात् उत्पत्तिरहित का अर्थ तीन भूतों के सङ्गठन से तीन गुणों की साम्यावस्था से नहीं; क्योंकि एक शाखावाले परमेश्वर से उत्पत्ति अग्नि, जल, पृथ्वी को लाल, श्वेत, काला रङ्ग है वह पृथ्वी का है। उन्हीं तीन भूतों को इस स्थान पर स्मरण किया है। लाल आदि साधारण शब्दों को कथन से; क्योंकि गुणों का विधान इन रङ्गों से संदिग्ध और भूतों का निश्चित, इसलिये संदिग्ध की जगह निश्चित अर्थ लेना न्याय कहलाता है।

प्रश्न—श्रुति में न उत्पत्ति बतलाई है और न दूसरी जगह भूत उत्पत्ति है; इस कारण यह अर्थ नहीं हो सकता?

उत्तर—

कल्पनोपदेशाच्चमध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

पदार्थ—(कल्पनोपदेशात्) कल्पना से उपदेश

करने के कारण (मध्वादिवत्) मध्वादि की प्रकार (अविरोधः) विरोध नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार मधु आदि की कल्पना करके उपदेश किया है, ऐसे ही यहाँ शब्द अजा अर्थात् विना उत्पत्ति के कारण गौणिक नहीं; किन्तु अग्नि, जल, पृथ्वी तीनों के लिये यह शब्द कल्पित गढ़ा गया है। लोक में अजा का शब्द कल्पनार्थ करने के कारण कहा जाता है, केवल गुणी होने से प्रकृति का नाम हो सकता है। पृथ्वी, जल, अग्नि के कारण यह शब्द न तो पारिभाषिक हो सकता है न गौणिक (बकरी) स्वीकार किया जा सकता है और पृथ्वी, जल, अग्नि भी प्रकृति में सम्मिलित हैं; इस कारण प्रकृति ही समझना उचित है। सूत्रकार का तर्क केवल इसलिये है कि प्रकृति को स्वतन्त्र जानकर भूल से प्रकृतिवाद की भाँति जगत्कर्त्ता न मान लिया जावे। वास्तव में वह प्रकृति को माया के नाम से स्वीकार करते हैं।

प्रश्न—शंकराचार्य्य आदि प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं।

उत्तर—संसार में स्वामी की सृष्टि और राजा की प्रजा आदि उसकी शक्ति कहाती है; इस कारण प्रकृति को परमात्मा की शक्ति व सामर्थ्य मानने में कोई दोष नहीं। यदि प्रकृति स्वतन्त्र और चेतन होती, तो कोई दोष होता।

प्रश्न—अग्नि, जल आदि उस संख्या में जो सांख्य में गिना चुके हैं; इस कारण प्रकृति अजा शब्द से लेने में कोई दोष नहीं।

उत्तर—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

पदार्थ—(न संख्योपसंग्रहात्) संख्या में आ जाने से (अपि) भी (नानाभावात्) एक से अधिक सत्तायें होने से (अतिरेकात्) और गुणों से पृथक् होने से (च) भी।

भावार्थ—यदि यह कहा जावे कि श्रुतियों ने जो संख्या (तादाद) बतलायी है, वही संख्या सांख्य में भी पाई जाती है। उस संख्या के कारण ज्ञात होता है कि प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति सांख्य ने जो बतलाई है, वह वेद से ही ली गई है, यह सत्य नहीं; क्योंकि इस प्रकार बहुत सी स्वतंत्र सत्तायें स्थापित हो जाती हैं। वास्तव में सब सत्तायें परमात्मा के अधिकार में हैं। प्रकृति परमात्मा की शक्ति तो पीछे स्वीकार ही कर चुके हैं और यह भी बतला चुके हैं कि इसके बिना परमात्मा जगत् के करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता और जीव और ब्रह्म का भेद भी मान चुके हैं। केवल इन सूत्रों का अर्थ यह है कि जीव और प्रकृति परमात्मा के साथ ही सम्मिलित है। जैसे—एक राजा कहने से उसका देश और प्रजा स्वयम् आ जाती है; क्योंकि बिना देश व प्रजा के किसका स्वामी और बिना प्रजा के किसका राजा हो सकता है, ऐसे ही आत्मा शब्द का अर्थ ही व्यापक है, जो बिना व्याप्य के हो नहीं सकता। इस जगह जो कुछ खण्डन किया जा रहा है, वह प्रकृति की स्वतंत्रता का है कि वह स्वयम् कुछ नहीं कर सकती और संख्या के अन्दर यह दोष बतलाते हैं कि

चौबीस तत्त्व तो अचेतन हैं और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीवात्मा चेतन है, परन्तु संख्या न सजातियों का हुआ करता है प्रकृति के तत्त्व और पुरुष सजातीय नहीं हो सकते। संख्या के अतिरिक्त ब्रह्म पृथक् रहता है। ब्रह्म को सम्मिलित करने से संख्या छब्बीस हो जाती है। ब्रह्म को न मानने से सांख्य दर्शन के सूत्रों में जो ब्रह्म को स्वीकार किया है, उसका खण्डन होता है; इस कारण श्रुति के अन्दर संख्या मिलने से भी प्रकृति को जगत्कर्ता विचार करना भी जैसा कि प्रकृतिवादी मानते हैं, सत्य नहीं।

प्रश्न—क्या इससे सांख्य और वेदान्त में विरोध नहीं प्रतीत होता?

उत्तर—नहीं, यह केवल पढ़नेवालों के उस शङ्का को निवृत्त करने के कारण है कि यह सांख्य के उपादान कारण को जगत् का निमित्त कारण जो वेदान्त का विषय है, न समझ ले और उपनिषदों के पंच शब्दों से पाँच स्थूल भूत न ग्रहण करे।

प्रश्न—उपनिषदों की संख्या से क्या प्रयोजन है?

उत्तर—

प्राणादयोवाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

पदार्थ—(प्राणादयः) प्राण आदि हैं (वाक्यशेषात्) आगे वाक्य में विषय शेष होने से।

भावार्थ—जिस मंत्र में पंच २ जना * यह संख्या आई है, जिससे पच्चीस संख्या मिलाकर यह प्रकृति के पच्चीस तत्त्व सिद्ध

---

* यस्मिन् पंच २ जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेनमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्म सद्दशोपमम्।

किये जा सकते हैं। इससे आगे मन्त्र में ब्रह्म का स्वरूप बतलाने के कारण प्राण आदि का विधान है, जिससे बतलाया गया है कि वह ब्रह्म प्राणों का प्राण है, चक्षुओं का चक्षु है, कर्णों का कर्ण है, मन का मन है, उससे पता लगता है कि वहाँ का शेष विषय प्रकृति के सम्बन्ध में नहीं; किन्तु ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखता है।

प्रश्न—प्राण आदि में जन शब्द का प्रयोग किस प्रकार सत्य हो सकता है।

उत्तर—तत्त्वों में जन शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। दोष दोनों ओर एक सा है, परन्तु अगले प्रकरण के कारण प्राण आदि लिये जा सकते हैं; क्योंकि शाब्दिक और पारिभाषिक अर्थ दोनों में नहीं पाये जाते; परन्तु एक के साथ सम्बन्ध ज्ञात होता है, दूसरे के संग सम्बन्ध भी नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न—बहुधा मनुष्यों ने पंच जन शब्द के अर्थ देव, पितृ, गन्धर्व, असुर और राक्षस लिये हैं और अनेक मनुष्य चारों वर्ण और पाँचवाँ निषाद इससे आशय लेते हैं।

उत्तर—यह भी हो सकता है। आचार्य्य का अर्थ यह है कि यहाँ पच्चीस तत्त्व इस संख्या से प्रयोजन नहीं।

प्रश्न—माध्यन्दिनी शाखावाले तो × पाँच जन से प्राण आदि ले सकते हैं; परन्तु कण्व शाखावाले क्या लें?

उत्तर—

ज्योतिष्येकेषमसत्यन्ने ॥ १३ ॥

पदार्थ—(ज्योतिषि) ज्योति में (एकेषम्) कण्व शाखावालों में (असति) न होने पर (अन्ये) दूसरे।

× यजुर्वेद की माध्यन्दिनी और काण्व दो शाखायें हैं।

भावार्थ—माध्यन्दिनी शाखावाले तो उस स्थान पर पञ्च जन शब्द से प्राण लेते हैं और काण्व शाखावाले पाँच ज्योतियाँ लेते हैं, परन्तु प्राण शब्द का सम्बन्ध तो मालूम होता है; क्योंकि वह स्थान पर आता है। ज्योति शब्द उस स्थान पर आता नहीं; इस कारण उसको लेना उचित नहीं। दोनों शाखाओंवालों में कोई उस पंच जन शब्द से पच्चीस तत्त्व नहीं लेता। इस पर आक्षेप करता है कि ब्रह्म जगत् का कारण है।

कारणत्वेनचाकाशादिषुयथाव्यपदिष्टोक्तेः॥१४॥

पदार्थ—(कारणत्वेन) श्रुति में कारणपने से (आकाशादिषु) आकाश, अग्नि आदि में (यथा) जैसे (व्यपदिष्टोक्तेः) उपदेश करते हुए कहा है।

भावार्थ—वेदान्त में ब्रह्म को जगत् का कारण कहीं नहीं कहा, केवल आकाश, तेज आदि का कारण कहा है; इस कारण न ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है, न जगत् ब्रह्म का विषय है; क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान एकसा बतलाया गया है। श्रुति में उत्पत्ति के सम्बन्ध जो विरोध है अर्थात् प्रत्येक वेदान्त के ग्रन्थ में पृथक्-पृथक् प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति देखी जाती है और प्रवाह भी अनेक प्रकार के हैं। कहीं लिखा है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, यहाँ पर सबसे प्रथम आकाश की उत्पत्ति बतलाई; कहीं बतलाया कि उसने तेज को उत्पन्न किया; कहीं बतलाया कि उसने प्राण को उत्पन्न किया, यहाँ प्राण से उत्पत्ति का प्रवाह आरम्भ हुआ है; कहीं सीधे मनुष्यों की उत्पत्ति बतला दी कि परमात्मा ने उन मनुष्यों को उत्पन्न किया; कहीं यह बतलाया कि यह सृष्टि अभाव से

उत्पन्न हुई है अर्थात् असत् कार्यवाद बतलाया है ; कहीं सृष्टि सत् से उत्पन्न बतलाकर सत् कार्य्यवाद को प्रगट किया है और असत् कार्य्यवाद का खण्डन किया है कि असत् से सत् कैसे हो सकता है ; कहीं स्वयम् जगत् बन जाना लिखा है और कहा कि वह स्वयम् नाम रूप से विकार को प्राप्त हो गया ; इस प्रकार वेदान्त के उपदेश में विरोध होने से पाया जाता है कि ब्रह्म सृष्टि-कर्त्ता नहीं ; किन्तु सृष्टि का कर्त्ता कोई दूसरा ही है, जो स्मृति और न्याय से सिद्ध है अर्थात् प्रकृति जगत् का कारण है। जब-कि वेदान्त के ग्रन्थों का स्वयम् मतैक्य नहीं, तो किस प्रकार कहा जा सकता है। उसपर कहते हैं कि यह जितने वाद हैं, वह वेदान्त के सिद्धान्त को पुष्ट करने के कारण हैं ; ताकि कोई मतवाला आकर वेदान्तमत का खण्डन न कर सके ; क्योंकि यदि मनुष्य ने किसी तर्क को सुना न हो, तो उसके सुनते ही बजाय उत्तर देने के वह घबरा जाता। यदि सुनी हुई बात हो, तो उसे कोई घबराहट नहीं होती, स्पष्टतया उत्तर दे देता है ; इस कारण वेदान्त के विद्वानों में जितने वाद हो सकते हैं अपने ग्रन्थों में पहिले से विद्यमान कर दिये हैं। लगभग एक सौ आठ वाद वेदान्त के आचार्य्यों ने दिखलाकर उनका खण्डन किया है, जिसको दूसरी पुस्तक में प्रस्तुत करेंगे उसका उत्तर सूत्रकार देते हैं।

समाकर्षात् ॥१५॥

पदार्थ—(समाकर्षात्) वादानुवाद करके सत् बतलाने से।

भावार्थ—क्योंकि इच्छुकों को जब तक दोनों ओर का विचार न करा दिया जावे, वह सत्य को जान नहीं सकते ; इस कारण

वेदान्त के आचार्य्य प्रत्येक विचार को, जो जिज्ञासु के लिये सत् ज्ञान के रास्ते में रुकावट मालूम होता है युक्तिसहित प्रस्तुत करके जिज्ञासु अर्थात् विद्यार्थी की परीक्षा करते हैं; पश्चात् उसका खण्डन करके बतला देते हैं; इस कारण वेदान्त का तात्पर्य एक ही है। शेष सब वाद जिज्ञासु की बुद्धि के वृद्धि के कारण प्रस्तुत किये हैं। जैसे कहा है कि—ब्रह्म असत् है; यदि चेतन असत् है, तो नियमानुसार हरकत कैसे हो सकती है। जड़ पदार्थ प्रकृति में स्वाभाविक क्रिया (तहरीक बिज्ज़ात) मानकर कोई पदार्थ मुतहर्रिक और कोई पदार्थ ग़ैरमुतहर्रिक हो नहीं सकता और न परिमाणु में संयोग हो सकता है क्योंकि क्रियावान (मुतहर्रिक) पदार्थ में एक ही रफ़्तार (गति) हो, जो परिमाणु की अवस्था में समान (हमजिन्स) होने से आवश्यक है कि संयुक्त होना (बन जाना) बुद्धि विरुद्ध (मुहाल अक़्ल) है। यदि क्रियारहित (ग़ैरमुतहर्रिक) माना जावे, तो भी प्रकृति में संयोग नहीं हो सकता और संयोग बिना सृष्टि बन नहीं सकती। इस प्रकार ब्रह्म को अस्तित्व मानकर उससे जगत् की उत्पत्ति को सम्भव सिद्ध करके बतलाते हैं, ऐसे ही वेदान्तों के और प्रकरणों में जो विचार किया है, वह सब जिज्ञासु की योग्यता और सृष्टि में जो महाप्रलय से प्रथम अनेक प्रकार की प्रलय होती है, उसको बतलाने के कारण और यह बतलाने के लिये कि कहीं कारण परम्परा से वर्णन किया जाता है, कहीं साक्षात्, जैसे बहुधा ईसाई कहते हैं कि मसीह इब्राहीम का पुत्र है, जिसके अर्थ यह होते हैं कि प्रवाह से मसीह का सम्बन्ध इब्राहीम से है। इस प्रकार के कारण होने से तो वेदान्त के वाक्यों में विरोध है नहीं; किन्तु सब वाक्य अपने-अपने समय पर आवश्यक हैं। जैसे कोई

बालक पिता से प्रश्न करे कि मनुष्य किसे कहते हैं, वह एक-एक अङ्ग को समझाने के लिये. बतलाकर उसको बतलावे कि इस पदार्थ का नाम मनुष्य है।

प्रश्न—कौषीतकी ब्राह्मण * में बालाक्य अजातशत्रु की कथा में सुना है कि जो कि इन पुरुषों का कर्ता, जिसका वह कर्म है वह जानने योग्य है; उस जगह जीव जाननेयोग्य है, प्राण जाननेयोग्य है या परमात्मा; क्योंकि गुणों से तीनों प्रगट होते हैं। सब शरीर की हरकत प्राणों के सहारे होती है। यदि इंजन में भाप न हो, पेट में अग्नि और भोजन न हो, हरकत नहीं कर सकता। दूसरे जीव का धर्म ज्ञान और प्रयत्न है और कर्म प्रयत्न से होता है; इसलिये जीव मालूम होता है। ब्रह्म का पुरुषों का कर्त्ता होना भी बहुत जगह लिखा है; इस कारण शंका उत्पन्न होती है कि यहाँ किससे अभिप्राय है?

उत्तर—

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

पदार्थ—(जगत्) संसार का (वाचित्वात्) प्रगट करनेवाला होने से।

भावार्थ—क्योंकि उस जगह पुरुष शब्द जगत के अर्थों में आया है और जगत् को ही उसका कर्म अर्थात् उसे बना हुआ बतलाया है; इसकारण न प्राण ही जगत्कर्त्ता हो सकते हैं जैसा कि प्रथम सिद्ध कर चुके हैं और न जीव कर्त्ता कहला सकता है। जगत्कर्ता केवल ब्रह्म ही हो सकता है, वही लेना चाहिये।

* यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्यवैतत्कर्म स वै वेदितव्यम।

प्रश्न—वहाँ पुरुषों का कर्ता बतलाया है, जगत् का कर्ता नहीं बतलाया।

उत्तर—पुरुष जगत् का एक बड़ा भाग है; इस कारण जगत् के अर्थों में ही पुरुष शब्द प्रथम है। जैसे कहता है कि रणजीतसिंह लाहौर का राजा था, वहाँ उसका अर्थ जिसमें देश लाहौर राजधानी है, उस सब देश से है; क्योंकि पुरुष की बनावट सबसे उत्तम है। इस कारण पुरुष शब्द जगत् के अर्थों में आया है।

प्रश्न—पुरुष तो जीव और ब्रह्म का नाम है। न तो ब्रह्म का कर्ता ब्रह्म हो सकता है और न जीवों का; इस कारण यह कथन उचित नहीं।

उत्तर—क्योंकि जीव को पुरुष उस समय कहते हैं, जो पुर अर्थात् शरीर में रहता है और शरीर के विना उसकी पुरुष संज्ञा हो नहीं सकती; इस कारण शरीर का कर्त्ता ब्रह्म हो सकता है नकि जीवों का। इस वास्ते शरीर का कर्त्ता होने से वह पुरुष का कर्त्ता कहाता है; इस कारण ब्रह्म जो जगत्-कर्त्ता है, वह ही जानने योग्य है।

प्रश्न—जबकि उस वाक्य में आगे प्राण लिखे हैं, जो जीव का लिंग अर्थात् चिह्न है; प्राण मुख्य प्राणों से अर्थ है, इससे ब्रह्म जानने योग्य क्यों लिया जावे?

उत्तर—

जीवमुख्यं प्राणलिङ्गान्नेतिचेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

पदार्थ—(जीव मुख्य) उस स्थान पर जीव ही मुख्य है (प्राणलिङ्गात्) उसका चिह्न प्राण विद्यमान्

होने से (न) नहीं (इति चेत्) यदि ऐसा हो (तत्) उसका (व्याख्यातम्) प्रथम उत्तर दे चुके हैं।

भावार्थ—प्राण के चिह्न से जीव अर्थ लेना चाहिये, यह सत्य नहीं ; क्योंकि प्रथम इस पर वाद-विवाद कर चुके हैं। उस स्थान पर पुरुषों का कर्त्ता होने से ब्रह्म ही लिया जावेगा। इस-पर जैमिनी आचार्य अपनी सम्मति देते हैं।

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्न व्याख्यानाभ्या मपिचैवमेके ॥ १८ ॥

पदार्थ—(अन्यार्थन्तु) दूसरे के अर्थ के कारण (जैमिनिः) व्यासजी के शिष्य जैमिनि मानते हैं (प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्) उसके शास्त्रार्थ देखने से (अपि) भी (च) और (एवम्) ऐसे ही (एके) एक जगत् मानते हैं।

भावार्थ—जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि उस समय तर्क करने की आवश्यकता नहीं। उस शब्द में जीव लेना चाहिये वा ब्रह्म ; क्योंकि कौपतिकी ब्राह्मण में जो उस जगह प्रश्न वा उत्तर है, उनसे स्पष्ट प्रगट होता है कि वहाँ प्रश्न यह है।

प्रश्न—सोये हुए मनुष्य के जगाने से प्राण आदि से पृथक् जीव में जीव से पृथक् विषय विद्यमान होता है। ऐ वालाक्य मनुष्य ! यह कहाँ सोता है, यह कहाँ उत्पन्न हुआ है, यह कहाँ से आया है ?

उत्तर—जब यह सोकर स्वप्न (ख्वाब) नहीं देखता,

उसमें प्राण किस प्रक ... और लग-
कर ब्रह्म के आनन्द ... ात् निद्रा की अवस्था
में जीव बाहर के वि ... ोड़कर केवल ब्रह्म के आनन्द
को भोगता है और ... आत्मा से प्राण पृथक् होकर
इन्द्रियों को जगाते हैं ... सब संसार जागता है।

प्रश्न—निद्रा की ... जीव उपाधि को त्यागकर ब्रह्म
क्यों नहीं हो जाता?

उत्तर—ब्रह्म में उ... हीं आ सकती; इस कारण ब्रह्म
जीव नहीं बनता। जब ... ीव बना नहीं, तो उपाधि कहना
व्यर्थ है। पुनः उपाधि ... से जीव-ब्रह्म कैसे बन सकता है?
निश्चय निद्रा की अवस ... जीव का सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं
से हटकर अपने आ... ोने से उसको ब्रह्म के गुण आनन्द
की प्राप्ति होती है। उ... मय पर माध्यान्दिनी शाखावाले जीव
को बतलाकर और उसके अन्दर रहनेवाले ब्रह्म को ही जानने
योग्य स्वीकार करते हैं। इस पर और युक्ति देते हैं।

वाक्यान्वयात् ॥ १६ ॥

...र्थ—(वाक्य) वचन के (अन्वयात) अन्वय से।

भावार्थ—बृहदारण्यक उपनिषद् × में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि—ऐ मैत्रेयी! पति की इच्छा से पति को प्यार नहीं

× महो वाचने वारे पत्युः कामाय पति प्रियोभवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञान इदं सर्वं विदितम्। बृ० । ४ । २ । ६ ।

करती ; किन्तु आत्मा की इच्छा से। ऐसे ही संतान की इच्छा से संतान को प्रेम नहीं करते ; किन्तु आत्मा की इच्छा से सबको प्रेम करते हैं। आत्मा ही ऐ मैत्रेयी ! देखने, सुनने और जानने के योग्य है। केवल एक आत्मा के जानने ही से सब जगत् जाना जाता है। यहाँ पर शङ्का उत्पन्न होती है कि इस जगह जीवात्मा को देखने, सुनने और जाननेयोग्य बताया है वा परमात्मा को ? प्रेम रखने से तो भोगनेवाला जीवात्मा ज्ञात होता है और आत्मा के जानने से सबका ज्ञान हो जाने के कारण परमात्मा का बोध होता है ; परन्तु जब पूर्णतया विचार करके देखते हैं, तो उस स्थान पर परमात्मा ही का ग्रहण होता है ; क्योंकि सारे वाक्य का अर्थ उसीमें पाया जाता है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था कि उस धन से मुक्ति की आशा नहीं। उस पर मत्रेयी ने कहा कि जिससे मुक्ति न हो, उससे मुझे लाभ न होगा ; इस कारण जिससे मैं मुक्त हो जाऊँ आप उसीका उपदेश करें। उस पर याज्ञवल्क्य ने यह सब आत्मोपदेश किया ; क्योंकि मुक्ति सिवाय परमात्मा के जानने के हो नहीं सकती। इस कारण यहाँ आत्मा शब्द से परमात्मा ही लेना चाहिये।

प्रश्न—यदि आत्मा शब्द से परमात्मा ही लिया जावे, तो क्या परमात्मा के कारण धन, सन्तान, स्त्री आदि प्रिय होती हैं, यह किस प्रकार सम्भव है इस कारण जीवात्मा लेना चाहिये ?

उत्तर—क्योंकि जीवात्मा में आनन्द की न्यूनता है, जिससे उसकी न्यूनता पूर्ण हो, उसकी इच्छा होती है। इसी कारण धन में आनन्द समझकर उसकी इच्छा करता है ; पुत्र में आनन्द समझकर उसकी इच्छा करता है, स्त्री में आनन्द समझकर उसकी इच्छा करता है ; तात्पर्य यह है कि प्रत्येक इच्छा आनन्द के

कारण होती है और आनन्द सिवाय परमात्मा के दूसरे में है नहीं, इस कारण सब इच्छायें परमात्मा के ही लिये हैं। इस पर आश्मरथ्य आचार्य्य अपनी सम्मति देते हैं।

प्रतिज्ञा सिद्धेः लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

पदार्थ—(प्रतिज्ञा) द्वारा (सिद्धेः) सिद्ध हो जाने से (लिङ्गम्) परमात्मा के लेने का चिह्न (आश्मरथ्यः) आश्मरथ्य आचार्य्य का कथन है।

भावार्थ--क्योंकि यह प्रतिज्ञा की कि उस एक आत्मा के जानने से सब ही जाना जायगा। उस पक्ष का प्रमाण होना कि परमात्मा के जानने से ही सब जाना जाता है, यह चिन्ह इस बात का प्रमाण है कि याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा में आत्मा शब्द से परमात्मा ही लेना उचित है—ऐसा आश्मरथ्य आचार्य्य मानते हैं। अतः पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—बहुधा आचार्य्य इस स्थान पर जीव ब्रह्म का भेद अभेद निकालते हैं।

उत्तर—अभेद के कारण हम प्रथम बता चुके हैं कि जिस प्रकार दर्पण सन्मुख रखते ही नेत्र और सुर्मा का एक साथ ज्ञान होता है, ऐसे ही एक साथ ही जीव और ब्रह्म का ज्ञान होता है। जब मन शुद्ध और पवित्र होगा, तब ही दोनों का ज्ञान होगा।

प्रश्न—न्याय दर्शन में तो मन का लक्षण * यह किया गया है कि जिसके कारण एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। अब जीव और ब्रह्म का एक साथ कैसे ज्ञान हो सकता है?

* युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

उत्तर—दो इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ज्ञान नहीं होता जीव और ब्रह्म दो इन्द्रियों के विषय नहीं, इस कारण एक साथ ज्ञान हो सकता है। इस पर काशकृत्स्न आचार्य्य की सम्मति प्रगट करते हैं।

अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः ॥ २१ ॥

पदार्थ—(अवस्थितेः) उसमें रहने से (इति) यह (काश कृत्स्नः) काश कृत्स्नः आचार्य्य मानते हैं।

भावार्थ—जीव में ब्रह्म है; जैसा बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य से सिद्ध हो चुका है, इस कारण जीव और ब्रह्म का एक साथ ज्ञान होता है; और ब्रह्म के जानने से ही सबकी मुक्ति होती है, इस कारण आत्मा शब्द से ब्रह्म का अर्थ लेना उचित है।

प्रश्न—जबकि श्रुति ❀ ने यह लिखा है कि उस जीवात्मा में अनुप्रवेश करके नाम और रूपवाला जगत् उत्पन्न किया जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्म की एक अवस्था जीव है।

उत्तर—अनु शब्द ही प्रगट करता है कि जीव और ब्रह्म पृथक् पृथक् हैं, क्योंकि यदि प्रवेश करके कहते, तो परमात्मा और माया दो होते हैं—एक प्रवेश करनेवाला, दूसरा जिसमें प्रवेश किया; परन्तु अनु शब्द ने तीन सिद्ध किये प्रथम् प्रकृति जिसमें प्रवेश किया, दूसरे जीव जो प्रवेश हुआ, तीसरा परमात्मा जो अनुप्रवेश हुआ। इस कारण सबमें भीतर होने से परमात्मा का ज्ञान अर्थात् सबका ज्ञान हो सकता है।

❀ अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छा० ६। ३। २

प्रश्न—यदि जीव और ब्रह्म को एक ही मान लिया जावे, तो क्या दोष है?

उत्तर—प्रथम तो श्रुतियाँ और सूत्र अप्रमाण होंगे, जिनमें भेद बतलाया है; दूसरे उन श्रुतियों के विरुद्ध होने से अभेद वाली श्रुतियां भी अप्रमाण हो जावेंगी। जब श्रुति और सूत्र अप्रमाण हो गये, तो वेदान्तशास्त्र भो प्रमाण नहीं रहेगा।

प्रश्न—यदि भेदवाली श्रुति को उपाधिकृत भेद और अभेदवाली को साक्षात् भेद में लगावें, तो क्या दोष होगा?

उत्तर—उस अवस्था में जीव के अन्दर ब्रह्म नहीं कहला सकता, जैसा कि श्रुति बतलाती है। ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं, जहाँ उपाधिकृत भेद एक दूसरे के अन्दर जा सके। उसमें आत्माश्रयी दोष है, ऐसे और भी कई दोष हैं।

प्रश्न—क्योंकि हम जगत् को मिथ्या मानते हैं, इस कारण यह सब दोष भी मिथ्या हैं; श्रुति भी जगत् के अन्दर होने से मिथ्या ही है, इस कारण जब यह दोष मिथ्या है, तो मिथ्या से हमारी क्या हानि हो सकती है।

उत्तर—जब जगत् के अन्दर होने से श्रुति और दोष मिथ्या है, तो तुम्हारा वाक्य भी जगत् में होने से मिथ्या है और जीव और ब्रह्म का अभेद भी जगत् के अन्दर होने से मिथ्या हो गया। जब यह मिथ्या हुआ, तो उसके विरुद्ध सत्य होगा कि जगत् सत्य है और जीव ब्रह्म का भेद है।

प्रश्न—यह स्वीकार किया जावे कि जगत् सत्य है, तो जगत् में होने से हमारा यह वाक्य भी सत्य होगा कि जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म का भेद है?

उत्तर—क्योंकि उस वाक्य के सत्य सिद्ध करने के लिये जगत्

का सत्य होना आवश्यक है, जिससे उस वाक्य को सत्य सिद्ध करने के लिये जगत् खण्डन होने की अवस्था में यह वाक्य मिथ्या सिद्ध होता है और जगत् के मिथ्या होने की अवस्था में भी जगत् के अन्दर होने से मिथ्या है। निदान दोनों दशाओं में मिथ्या होने से जीव और ब्रह्म के अभेद का पक्ष गिर जाता है।

प्रश्न—जीव और ब्रह्म को कारण सिद्ध किया है, वह निमित्त कारण ही है, उपादान कारण क्यों नहीं ?

उत्तर—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ॥२२॥

पदार्थ—(प्रकृतिः) उपादान कारण (च) भी (प्रतिज्ञा) दावा (दृष्टान्त) और उदाहरण से (अनुपरोधात्) विरोध न होने से।

भावार्थ—यदि ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण स्वीकृत किया जावे, तो प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार करना पड़ेगा। जिस प्रकार घट रचता कुम्हार है वा आभूषण बनानेवाला सुवर्णकार है, उनका उपादान कारण मिट्टी और सुवर्ण पृथक् हैं; इसी प्रकार मानने से उस पक्ष में भेद आ जावेगा कि जिस एक के जानने से सब जाने जाते हैं और दृष्टान्त जो दिये हैं, वह सब उपदान कारण के दिये हैं, उनसे भी विरोध होगा। इस कारण ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों स्वीकार करना उचित नहीं।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि किसी वस्तु का उपादान कारण वा निमित्त कारण एक हो। इसमें दृष्टान्त का अभाव है।

उत्तर—सूत्रकार उस शङ्का को वहिष्कार करते हैं कि यदि प्रकृति न हो, तो ब्रह्म ने जगत् किस प्रकार बनाये। वह कहते हैं कि हमारा आत्मा शब्द कहने से दोनों आ जाते हैं। जैसे मकड़ी-वाले दृष्टान्त से दोनों अर्थात् जीव और शरीर एक मकड़ी शब्द से लिये जाते हैं। यहाँ ब्रह्म को वह मायासहित स्वीकार करते हैं, केवल स्वीकार नहीं करते ; क्योंकि अकेले में आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, और विना व्याप्य के व्यापक कहला नहीं सकता।

प्रश्न—दोनों कारण कैसे स्वीकार हो सकते हैं ?

उत्तर—

अभिद्यपदेशाच्च ॥ २३ ॥

पदार्थ—(अभिद्यः) भेद से नित्य (उपदेशात्) उपदेश करने से (च) भी।

भावार्थ—क्योंकि आत्मा शब्द का उपदेश करते हुए उसके व्याप्य को पृथक् नहीं वतलाया और विना व्याप्य के व्यापक कहा नहीं सकता ; इस कारण आत्मा शब्द दो वचन हैं, जो विना व्याप्य के कोई अर्थ नहीं देती। ऐसे ही मकड़ी का दृष्टान्त भी जीव और शरीर के भेद के विना ही दिया गया है और वहाँ शरीर और जीव में भेद होते हुए भी एक ही प्रगट किया गया है। उस उपदेश से जिस प्रकार मकड़ी जाले का उपादान कारण और निमित्त दोनों हैं, ऐसे ही आत्मा को जो व्याप्य से संयुक्त है जगत् के दोनों कारण कह सकते हैं ; परन्तु जब भेद से उप-देश करेंगे, तब दोनों पृथक् होंगे। जब दूसरे की भाँति अपने को पृथक् करते हैं, तब मैं शब्द से शरीर और जीव दोनों लेते हैं ;

परन्तु जिस समय आप विचारते हैं, तब शरीर से रहित अपने को मैं कहते हैं। इस प्रकार अन्तररहित उपदेश करने से आत्मा दोनों का कारण हो सकता है।

प्रश्न—इस प्रकार दोनों स्वीकार करें, सत्यपूर्वक जो जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध है और ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण युक्ति और प्रमाणों से लिया जाता है, क्यों न किया जावे?

उत्तर—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२४॥

पदार्थ—(साक्षात्) स्पष्टता से (च) भी (उभय) दोनों (आम्नानात्) वेद से उपदेश मिलने से।

भावार्थ—क्योंकि श्रुति ने आत्मा शब्द से दोनों अर्थ निकलते देखकर जगह-जगह दोनों कारणों का उपदेश इस कारण किया है कि कहीं ईश्वर को पराधीन मानकर सृष्टि के उत्पन्न करने में असमर्थ (मजबूर) न स्वीकार किया जावे। जिस प्रकार मनुष्य शरीर के आधीन नहीं होता, क्योंकि मनुष्य, जीव और शरीर संयोग का नाम है; जिस प्रकार राजा और राज्य प्रजा के आधीन नहीं होता, क्योंकि राजा कहते ही उसको हैं, जिसकी प्रजा और राज्य हो; इसी प्रकार आत्मा भी सृष्टि करने में प्रकृति के आधीन नहीं, क्योंकि वह उसके पास सदैव से है।

प्रश्न—जबकि परमात्मा प्रकृति के बिना जगत् को नहीं बना सकता, तो वह जगत् रचने के कारण प्रकृति का मुहताज क्यों नहीं?

उत्तर—जिसकी आवश्यकता होती है, उसके उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है; जिसको बनाने की आवश्यकता नहीं

होती, वह उसका मुहताज नहीं होता। जैसे—जिसके पास खाने को रोटी न हो, उसको रोटी का मुहताज कहते हैं; परन्तु जिस धनाढ्य के पास रोटी विद्यमान है, यद्यपि खाता वह भी है; परन्तु उसको रोटी का मोहताज नहीं कहते। निदान जिस परमेश्वर को प्रकृति के उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी, वह तो प्रकृति का मोहताज कहलायेगा। जिसके पास नित्य ही प्रकृति विद्यमान है, वह उसका मोहताज कैसे हो सकता है।

प्रश्न—यदि परमेश्वर के पास प्रकृति न हो, तो वह जगत् उत्पन्न नहीं कर सकता; इस कारण वह प्रकृति का मोहताज ही कहावेगा?

उत्तर—यदि परमेश्वर के पास प्रकृति न हो, तो वह परमेश्वर ही नहीं कहला सकता, क्योंकि परमेश्वर के अर्थ सबसे अधिक वस्तु के स्वामी के हैं। जिसके पास मिलकियत नहीं वह मालिक कैसा? परमेश्वर उस अवस्था में कहलाता है, जबकि उसकी प्रकृति अनादि है।

प्रश्न—परमेश्वर में प्रकृति उत्पन्न करने की शक्ति है, इस कारण प्रकृति रूप, गुण की शक्ति होने से वह स्वामी कहाता है।

उत्तर—यह तो दोनों ओर मान्य है कि जगत् को प्रकृति से परमेश्वर उत्पन्न करता है। एक दावा यह है कि उस स्वामी की प्रकृति अनादि है, और दूसरी यह है कि उसको प्रकृति उत्पन्न करने की शक्ति है। प्रथम अवस्था में मोहताज नहीं कि वस्तु उपस्थित है, दूसरी अवस्था में जितनी देर उत्पन्न करने में लगेगी, उतने समय तक पराधीन मानना पड़ेगा, क्योंकि "अल एहेतयाज अज़ अल ईजाद" का न्याय प्रसिद्ध है। उस स्थान पर इच्छुककर्त्ता मानना पड़ेगा 'इच्छुककर्त्ता' इस पर जितनी शङ्कायें

उत्पन्न होवेंगी, उनका उत्तर मिलना असम्भव है; निदान तीनों को अनादि मानना उचित है, जो एक आत्मा के शब्द से प्रगट होते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म ने आत्मा को बनाया, इससे आत्मा का उत्पन्न होना ज्ञात होता है; उधर आत्मा को नित्य बतलाया गया है।

उत्तर—

आत्माकृतेः परिणामात् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(आत्माकृतेः) आत्मा कर्म है (परिणामात्) विना आकृति में होने से।

भावार्थ—ब्रह्म को जीवात्मा का कर्त्ता बताया है, उसका कारण यह है कि जब शरीर में जीव प्रवेश होता है, तब उसकी आत्मा संज्ञा; होती है क्योंकि आत्मा के अर्थ व्यापक हैं, जो व्याप्य के विना हो नहीं सकता। अतः ब्रह्म और जीव को उसका व्याप्य अर्थात् शरीर प्रदान करते हैं। तब आत्मा संज्ञा (आत्मा नाम) होता है और शरीर अनेक प्रकार के हैं। उसमें जाकर निराकार आत्मा अनेक प्रकार का ज्ञात होता है। उस आकृति के परिणाम से उसको उत्पन्न हुआ प्रगट किया गया है। वास्तव में वह नित्य है, निदान उसको नित्य होते हुए भी उस परिमाण के कारण बना हुआ कह सकते हैं।

प्रश्न—अधिक मनुष्य जगत् को कार्य्य नहीं मानते और ब्रह्म के कारण दोनों से भी नकार करते हैं?

उत्तर—

योनिश्चगीयते ॥ २६ ॥

पदार्थ—(योनिः) कारण (च) भी (गीयते) वेदों में गाया गया वा बतलाया गया है।

भावार्थ—वेदों अथवा उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण (योनि) बतलाया गया है। यह शब्द तो उपादान कारण में प्रयोग होता है वा उस स्थान में जहाँ कहा है कि जो मनुष्य जगत् के कर्त्ता पुरुष को वा ब्रह्म को जो जगत् की योनि है; द्वितीय श्रुति का कथन है कि जो भूतों की योनि को दृढ़ विश्वासी मनुष्य देखते हैं—यहाँ पर योनि शब्द उपादान कारण के हेतु से प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि लोक में पृथ्वी की औषधि अर्थात् दवाओं, वनस्पतियों की योनि बतलाते हैं। इसलिये उपादान कारण विचार करके मकड़ी का दृष्टान्त भी उपनिषदों ने दिया है, जिससे स्पष्ट प्रगट है कि मायासहित ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त कारण बतलाया है, शुद्ध ब्रह्म को नहीं। अतः प्रकृति और पुरुष दोनों ही हुए, जो इस जगत् के निमित्त कारण और उपादान कारण कहाते हैं। केवल ब्रह्म निमित्त कारण और केवल प्रकृति उपादान कारण सिद्ध होती है। अब अन्तिम सूत्र कथन करते हैं।

एतेन सर्वे व्याख्याताः-व्याख्यातः ॥ २७ ॥

पदार्थ—(एतेन) इस नियम से (सर्वे) सब ही (व्याख्याताः) जगत्कर्त्ता के सम्बन्ध में विवाद (व्याख्याताः) खण्डित (रद) किये गये।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रकृति को स्वतन्त्र जगत्कर्ता होने का खण्डन करने के कारण उसमें ज्ञानपूर्वक कर्ता न होने का

खण्डन पंचम सूत्र पाद प्रथम से लेकर यहाँ तक अनेक प्रकार की शंका दिखलाकर किया गया है, इसीसे अन्य मनुष्य भी जो पंच भूतों को स्वतन्त्र जगत् का कारण मानते हैं वा आकर्षण से जगत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं वा जो दो प्रकार की विद्युतशक्ति (Electric power) प्रगट, दूसरे अप्रकट से वा एक संयोग (Positive) करनेवाली, दूसरे वियोग (Negative) करने वाली से जगत् उत्पन्न होना स्वीकार करते हैं, इस प्रकार के जो और वाद अर्थात् थ्योरियां ब्रह्म को कारण न मानकर वर्णन की गई हैं, सबका खण्डन हो जाता है ; क्योंकि यह वेदान्त शास्त्र उन मनुष्यों के लिये है, जो दर्शन और उपनिषद् के अर्थ को समझ सके। इस कारण संक्षिप्त (इख़्तसार) में सब मतों का खंडन किया गया है। प्रकृति आदि के प्रत्येक वाद इससे खण्डित हो जाते हैं।